UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178963

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. H&G T62H

Accession No. GH 905

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

गम्भीरता से विचार करे और किसी ऐसे निर्णय का निर्भीकता से विरोध करे, जिससे राष्ट्रीयता के नाम पर राष्ट्रीयता ही की जड़ कट रही हो। संकोच से काम न चलेगा। साहस, दृढ़ता और उद्देश की पवित्रता से उत्पन्न बल से हमें अपने आन्दोलन को संघटित करना होगा। साहित्यिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक संकीर्णता हमारे पक्ष को निबल कर सकती हैं। अल्पसंख्यकों के हिताहित की उपेक्षा करना राजनीतिक अन्याय और नैतिक पाप होगा। यदि इन बातों को ध्यान में रखकर लोकमत के संचालक अपना काम करेंगे तो वे अवश्य विजयी होंगे

वेंकटेशनारायण तिवारी

सूची-पत्र

हिन्दी बनाम उर्दू	...	...	१
हिन्दी-उर्दू की समस्या	...	...	१८
उर्दू के एक हिमायती की दलील	...	...	४५

—

हिन्दी बनाम उर्दू

[१]

इस सूबे में, ग़दर के बाद से, हिन्दी-उर्दू का झगड़ा चला आता है। नवाबी अमलदारी के ज़माने में सूबे की सरकारी ज़बान उर्दू थी। दरबार में उर्दू का बोलबाला था। दरबार के मुसाहिब उर्दू पर कमाल हासिल कर नवाबों के कृपा-पात्र बनने की उम्मीद करते थे। हिन्दी का हाल बुरा था। उसका कोई पुरसाहाल न था। देहातों में, ग़रीबों के घरों मे, व्यापारियों के बहीखातों में, पंडितों के पोथी-पत्रों या जन्म-कुंडलियों में हिन्दी को जगह मिल जाती थी, क्योंकि बहुत ज़माने से इस सूबे की भाषा संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से हिन्दी में बदलकर अपने वर्त्तमान रूप में प्रचलित है। इसी हिन्दी-भाषा को उर्दू और फ़ारसी के नये और पुराने भक्त तिरस्कार की दृष्टि से सदा देखते आये हैं। नवाबी या ब्रिटिश अदालतों या सरकारी दफ़्तरों में चूँकि उर्दू रायज थी, इसलिए, नौकरी पाने की ग़रज़ से, लोग उर्दू-भाषा ही सीखते थे। इस तरह हिन्दू और मुसलमान मुलाज़िम और वकील उर्दू लिखने और बोलने लगे। जिस ज़बान में ये लोग आपस में—किन्तु अपने घरवालों के साथ नहीं—बातचीत करने के आदी थे, उसी को ये सूबे की ज़बान समझ बैठे। अगर कभी कोई इनके इस ख़याल को ग़लत बताता, या उर्दू के साथ-साथ हिन्दी को भी सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में समान रुतबा देने के पक्ष में आवाज़ उठाता, तो उसे तरह-तरह से बदनाम कर उसकी ज़बान पर ताला लगाने की कोशिशें की जाती थीं। जो हाल पहले था, वही आज भी है, यद्यपि अब उर्दू के अनुरक्तों की तादाद दिन-प्रति-दिन घटती और हिन्दी के हिमायतियों की संख्या दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती जा रही है। हालाँकि उर्दू बोलने और लिखनेवालों में मुसलमानों और हिन्दुओं की क़रीबेश तादाद मिलती है; लेकिन इसके होते हुए भी मुसलमानों ने उर्दू को मुसलमानों की ज़बान क़रार देकर इस मसले को सांप्रदायिक हार-जीत का एक सवाल बना लिया है। इधर जब से कांग्रेस के हाथ में कई सूबों के शासन की बागडोर आई, तब से उर्दूवालों के

शोर-ग़ुल का कुछ ठिकाना नहीं। हमारे मुसलमान भाई हिन्दी-उर्दू के सवाल पर कांग्रेसी सरकार की कड़ी-से-कड़ी समालोचना करने लगे हैं। अगर इन दोस्तों से कोई पूछे कि कांग्रेसी सरकारों ने क्या किया, तो वे जवाब में कोई साफ़ बात नहीं बताते। मेरे लाख पूछने पर भी कि इस सूबे की कांग्रेसी सरकार ने कौन-सी ऐसी बात की, जिसकी वजह से उर्दू-ज़बान या लिपि को धक्का पहुँचा, उत्तर में महज़ ख़ामोशी आ खड़ी हो जाती है। कहने को कुछ हो तब भी, कुछ कहा तो जाय? अगर कुछ शिकायतें सुनाई दीं, तो केवल इस बात की कि फ़लाँ मंत्री ने अपनी तक़रीर में संस्कृत के ज़्यादा लफ़्ज़ों का इस्तेमाल किया या फ़लाँ कांग्रेसी नेता ने ख़त उर्दू में न लिखकर हिन्दी में लिखा। जो लोग एसेंबली को 'अयवान' और माननीय स्पीकर को 'जनाबे-सद्र' या 'जनाबे-आली' कहते हुए भी दावा करते हैं कि वे सूबे की आम-फ़हम ज़बान बोल रहे हैं, वे ही 'सभापति-महोदय' और 'धारा-सभा' सुनते ही चिल्लाने लगते हैं कि ये शब्द ग़ैरमानूस हैं। अज्ञानी में एक ख़ूबी होती है। उसे अपनी कमियों या कमज़ोरियों का पता नहीं रहता, और 'सभापति' या 'धारा-सभा' के समान जन-साधारण में प्रचलित, किन्तु उसके-से चंद सज्जनों की जमात के लिए अपरिचित, शब्दों के इस्तेमाल पर नाक-भौं चढ़ाने लगता है। इसी तरह हमारे दोस्त भी भाषा-संबंधी अपने अज्ञान को माप-दंड बनाते हैं दूसरों के शब्द-ज्ञान को नापने के लिए! इनके भाडार में थोड़े-से लफ़्ज़ हैं। उनके अलावा अगर कोई दूसरे लफ़्ज़ इस्तेमाल करे, तो ये फ़ौरन् बिगड़ उठते हैं कि बोलनेवाले को सही ज़बान का इल्म नहीं।

इन्हीं लोगों में हमें अपने एक प्रसिद्ध और सम्मानित विद्वान् का नाम भी लेना पड़ता है। आपने हिन्दी-उर्दू के बारे में जो दिलचस्प बातें इधर थोड़े दिनों से लिखी या कही हैं, उनकी जितनी तारीफ़ की जाय, वह थोड़ी है। उनके विचारों और उनसे भी बढ़कर उन विचारों के प्रकट करने के उनके ढंग को देखकर मेरा तो काफ़ी मनोरंजन हुआ। लेकिन मेरी बेअदबी मुआफ़ की जाय, अगर मैं यह कहने का दुस्साहस करूँ कि इस मसले पर जिस सरगर्मी के साथ इधर कुछ दिनों से वे बोल या लिख रहे हैं, उसे देखकर हम यह कहने के लिए मजबूर हो जाते हैं कि उनके विचारों में गर्मी की मात्रा अधिक और विशुद्ध विवेक की शोचनीय कमी है। वे कुछ सम्मानित मौलानाओं की हाँ में हाँ मिलाते हुए संस्कृत और अरबी-ज़बान के कठिन शब्दों को उर्दू या हिन्दी के दायरे से भगाने के

हो गये हैं । आपको शिकायत है कि हिन्दीवाले संस्कृत-शब्दों को
न मे ज़बरदस्ती ठूँसने की चेष्टा कर रहे हैं । आपकी सम्मति
ज़बान सहल हो, जिसमें कठोर या ग़ैरमानूस शब्दों का इस्तेमाल
। मझे नहीं मालूम कि आपकी राय में कौन-सी ज़बान सहल
या कठिन । बदक़िस्मती से मैंने उनकी क़लम से हिन्दी में न
तक कोई लेख देखा, और न कोई ख़त पढ़ा । इसलिए मैं नहीं
ा कि आप किस तरह की हिन्दी को सहल हिन्दी कहेंगे ।
न अगर वे अपनी तक़रीरों को हिन्दी-उर्दू में अनुवादित करके
ा दें, तो इस सूबे के वदनसीव अख़बारनवीसों को इस बात की
ा हो जायगी कि इस सूबे की जनता को कैसी ज़बान लिखनी
बोलनी चाहिए । आप ही के हमख़याल एक आदरणीय मौलाना
ा हैं । उनकी बहुत-सी स्पीचें मैंने सुनी हैं । उनके कई लेख भी
देखे हैं । उन लेखों को, देहातों की कौन कहे, शहरों में भी
फ़ी सदी से ज़्यादा आदमी आसानी से नहीं समझ सकते । एक दूसरे
ी आदरणीय मौलाना के भी कुछ लेख मैंने पढ़े हैं । वे जिस तरह
उर्दू ज़बान लिखते हैं, अगर वही सहल ज़बान है, तो मैं यही
। कि इन लोगों के कोषों में 'सहल' के वह मानी नहीं हैं, जो आम-
से लोग लगाया करते हैं । सर तेज, सर रज़ाअली, चौधरी खली-
मा, मिस्टर मुहम्मदअली जिन्ना, मिस्टर फ़ज़लुलहक़ आदि जितने
ाक्त उर्दू के हिमायती हैं, उन्होंने हिन्दी के समर्थकों पर बेसिर-
क बहुत-से लांछन लगाये हैं । उनसे मैं बहुत विनम्रता से यह पूछने
ष्टता करता हूँ कि उनमें से कितनों ने इन विषयों के समझने
ोशिश की है कि हिन्दी है क्या, हिन्दी और संस्कृत का इस मुल्क
ूरे सूबों की ज़बानों से क्या सम्बन्ध है, और इस मुल्क की जो आम
ा होगी, उसमें अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ों और इस्तलाहों—
भाषिक श दों—का कितना हिस्सा हो सकता है ? किसी उर्दूदाँ
ज तक इन सवालों का जवाब नहीं दिया । शायद इसी
नहीं दिया कि इसका कोई ऐसा जवाब हो ही नहीं सकता, जिससे
के पक्ष की व्यापक कमज़ोरी न खुल जाय । क्या वजह है कि
इस सूबे की ज़बान उर्दू है, तो यहाँ ग़ालिब, हाली और अकबर
ोवानों के मुक़ाबिले में तुलसीदास की रामायण का हज़ारहा
अधिक प्रचार हो ? अगर इस सूबे की ज़बान वह ज़बान है,
में ग़ालिब ने अपनी शेरें कहीं या हाली ने अपना मुसद्दस लिखा,
फिर गाँव-गाँव में उनकी शेरों या इनके मुसद्दस का उतना ही

शोर-ग़ल का कुछ ठिकाना नहीं। हमारे मुसलमान भाई हिन्दी-उर्दू के सवाल पर कांग्रेसी सरकार की कड़ी-से-कड़ी समालोचना करने लगे हैं। अगर इन दोस्तों से कोई पूछे कि कांग्रेसी सरकारों ने क्या किया, तो वे जवाब में कोई साफ़ बात नहीं बताते। मेरे लाख पूछने पर भी कि इस सूबे की कांग्रेसी सरकार ने कौन-सी ऐसी बात की, जिसकी वजह से उर्दू-ज़बान या लिपि को धक्का पहुँचा, उत्तर में महज़ ख़ामोशी आ खड़ी हो जाती है। कहने को कुछ हो तब भी, कुछ कहा तो जाय? अगर कुछ शिकायतें सुनाई दीं, तो केवल इस बात की कि फ़लाँ मंत्री ने अपनी तक़रीर में संस्कृत के ज़्यादा लफ़्ज़ों का इस्तेमाल किया या फ़लाँ कांग्रेसी नेता ने ख़त उर्दू में न लिखकर हिन्दी में लिखा। जो लोग एसेंबली को 'अयवान' और माननीय स्पीकर को 'जनाबे-सद्र' या 'जनाबे-आली' कहते हुए भी दावा करते हैं कि वे सूबे की आम-फ़हम ज़बान बोल रहे हैं, वे ही 'सभापति-महोदय' और 'धारा-सभा' सुनते ही चिल्लाने लगते हैं कि ये शब्द ग़ैरमानूस हैं। अज्ञानी में एक ख़ूबी होती है। उसे अपनी कमियों या कमज़ोरियों का पता नहीं रहता, और 'सभापति' या 'धारा-सभा' के समान जन-साधारण में प्रचलित, किन्तु उसके-से चंद सज्जनों की जमात के लिए अपरिचित, शब्दों के इस्तेमाल पर नाक-भौं चढ़ाने लगता है। इसी तरह हमारे दोस्त भी भाषा-संबंधी अपने अज्ञान को माप-दंड बनाते हैं दूसरों के शब्द-ज्ञान को नापने के लिए! इनके भांडार में थोड़े-से लफ़्ज़ हैं। उनके अलावा अगर कोई दूसरे लफ़्ज़ इस्तेमाल करे, तो ये फ़ौरन् बिगड़ उठते हैं कि बोलनेवाले को सही ज़बान का इल्म नहीं।

इन्हीं लोगों में हमें अपने एक प्रसिद्ध और सम्मानित विद्वान् का नाम भी लेना पड़ता है। आपने हिन्दी-उर्दू के बारे में जो दिलचस्प बातें इधर थोड़े दिनों से लिखी या कही हैं, उनकी जितनी तारीफ़ की जाय, वह थोड़ी है। उनके विचारों और उनसे भी बढ़कर उन विचारों के प्रकट करने के उनके ढंग को देखकर मेरा तो काफ़ी मनोरंजन हुआ। लेकिन मेरी बेअदबी मुआफ़ की जाय, अगर मैं यह कहने का दुस्साहस करूँ कि इस मसले पर जिस सरगर्मी के साथ इधर कुछ दिनों से वे बोल या लिख रहे हैं, उसे देखकर हम यह कहने के लिए मजबूर हो जाते हैं कि उनके विचारों में गर्मी की मात्रा अधिक और विशुद्ध विवेक की शोचनीय कमी है। वे कुछ सम्मानित मौलानाओं की हाँ में हाँ मिलाते हुए संस्कृत और अरबी-ज़बान के कठिन शब्दों को उर्दू या हिन्दी के दायरे से भगाने के

हामी हो गये हैं। आपको शिकायत है कि हिन्दीवाले संस्कृत-शब्दों को ज़बान मे ज़बरदस्ती ठूँसने की चेष्टा कर रहे है। आपकी सम्मति है कि ज़बान सहल हो, जिसमें कठोर या ग़ैरमानूस शब्दों का इस्तेमाल न हो। मझे नहीं मालूम कि आपकी राय में कौन-सी ज़बान सहल है, या कठिन। बदक़िस्मती से मैंने उनकी क़लम से हिन्दी में न आज तक कोई लेख देखा, और न कोई ख़त पढ़ा। इसलिए मैं नहीं जानता कि आप किस तरह की हिन्दी को सहल हिन्दी कहेंगे। लेकिन अगर वे अपनी तक़रीरों को हिन्दी-उर्दू में अनुवादित करके छपवा दें, तो इस सूबे के बदनसीब अख़बारनवीसों को इस बात की सूचना हो जायगी कि इस सूबे की जनता को कैसी ज़बान लिखनी और बोलनी चाहिए। आप ही के हमख़याल एक आदरणीय मौलाना साहब हैं। उनकी बहुत-सी स्पीचें मैंने सुनी हैं। उनके कई लेख भी मैंने देखे है। उन लेखों को, देहातों की कौन कहे, शहरों में भी पाँच फ़ी सदी से ज़्यादा आदमी आसानी से नहीं समझ सकते। एक दूसरे ऐसे ही आदरणीय मौलाना के भी कुछ लेख मैंने पढ़े हैं। वे जिस तरह की उर्दू ज़बान लिखते हैं, अगर वही सहल ज़बान है, तो मैं यही कहूँगा कि इन लोगों के कोषों में 'सहल' के वह मानी नहीं हैं, जो आम-तौर से लोग लगाया करते हैं। सर तेज, सर रज़ाअली, चौधरी खलीक़ुज़्ज़मा, मिस्टर मुहम्मदअली जिन्ना, मिस्टर फ़ज़लुलहक़ आदि जितने इस वक़्त उर्दू के हिमायती हैं, उन्होंने हिन्दी के समर्थकों पर बेसिर-पैर के बहुत-से लांछन लगाये हैं। उनसे मैं बहुत विनम्रता से यह पूछने की धृष्टता करता हूँ कि उनमें से कितनों ने इन विषयों के समझने की कोशिश की है कि हिन्दी है क्या, हिन्दी और संस्कृत का इस मुल्क के दूसरे सूबों की ज़बानों से क्या सम्बन्ध है, और इस मुल्क की जो आम ज़बान होगी, उसमें अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ों और इस्तलाहों—पारिभाषिक शब्दों—का कितना हिस्सा हो सकता है? किसी उर्दूदाँ ने आज तक इन सवालों का जवाब नहीं दिया। शायद इसी लिए नहीं दिया कि इसका कोई ऐसा जवाब हो ही नहीं सकता, जिससे उन्हीं के पक्ष की व्यापक कमज़ोरी न खुल जाय। क्या वजह है कि अगर इस सूबे की ज़बान उर्दू है, तो यहाँ ग़ालिब, हाली और अकबर के दीवानों के मुक़ाबिले में तुलसीदास की रामायण का हज़ारहा गुना अधिक प्रचार हो? अगर इस सूबे की ज़बान वह ज़बान है, जिसमें ग़ालिब ने अपनी शेरें कहीं या हाली ने अपना मुसद्दस लिखा, तो फिर गाँव-गाँव में उनकी शेरों या इनके मुसद्दस का उतना ही

प्रचार क्यों नहीं, जितना आज दिन रामायण का है ? मैं जब सन् १९२२ ई० में ब्रिटिश गायना गया था, तब मैंने वहाँ हिन्दुस्तान के क़ुलियों को रात में तुलसीदास की रामायण का पाठ करते हुए महीनों सुना । जहाँ तुलसीदास की रामायण हिन्दुस्तान से १३,००० मील दूर ब्रिटिश गायना में चालू है, वहाँ इस सूबे से गये हुए सर तेज के भाई-बन्द तुलसीदास के स्थान में ग़ालिब, हाली या अकबर को क्यों नहीं पढ़ा करते ? क्या इसकी वजह यह नहीं हो सकती या है कि तुलसीदास की रामायण उस ज़बान में लिखी गई है, जो इस सूबे के रहनेवालों की ज़बान है; और जिस ज़बान में ग़ालिब, हाली या अकबर ने लिखा है, वह ज़बान यहाँ के मुट्ठी-भर पढ़े-लिखे बाबू लोगों की ज़बान भले ही हो, लेकिन वह इस सूबे की ज़बान न थी, न है, और न हो सकती है । इसलिए यह देखकर हमें बेहद तकलीफ़ होती है कि फ़िरक़ावाराना तअस्सुब—साम्प्रदायिक पक्षपात—की वजह से इस मसले पर आज-कल ज़रूरत से ज्यादा सरगर्मी दिखाई जा रही है, उछल-कूद भी बेतरह हो रही है; हालाँकि इसके लिए न कोई अवसर है, और न कोई ज़रूरत ही मालूम होती है ।

कांग्रेस को बदनाम करने के लिए जहाँ और बहुत-सी बातें ईजाद की गई हैं, वहाँ उस पर एक यह भी मनगढ़ंत इल्ज़ाम लगाया जाता है कि वह उर्दू के स्थान में हिन्दी को बैठाकर मुसलिम संस्कृति या इस्लामी कलचर की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाना चाहती है । हमारे एक मुसलिम दोस्त ने, जिन्होंने बहुत ही संजीदा तबीअत पाई है, एक बार मुझसे फ़रमाया कि उर्दू को निकालकर इस सूबेवाले इस्लामिक प्रभावों पर हमला करना चाहते हैं ।

मैंने उनसे बड़े अदब के साथ पूछा—"यदि आप 'सभापति' को 'जनाबे-सद्र' कहना चाहते हैं, तो मेहरबानी करके बताइए कि मैंने या मेरे और किसी दोस्त ने आपको 'जनाबे-सद्र' कहने से कब रोका या उस पर एतराज़ किया ? लेकिन अगर मैं 'जनाबे-सद्र' के स्थान पर 'सभापति महोदय' कहना चाहता हूँ, तो आप क्यों मेरी ज़बान पकड़ना चाहते हैं ? आपको आज़ादी है कि यदि आप चाहें, तो 'अहिंसा' न कहकर उसकी जगह 'अदम तशद्दुद' कहें, 'सत्याग्रह' न कहकर 'सिविल नाफ़रमानी' का इस्तेमाल करें । मैं तो आपको इन शब्दों के इस्तेमाल से नहीं रोकता । आप लफ़्ज़ों के इस्तेमाल में आज़ाद हैं । हमारा क्या क़ुसूर है, और आप हमसे

क्यों बिगड़ते हैं, अगर वही आज़ादी हम अपने लिए चाहते हैं ?"

उन्होंने जवाब में कहा—"वाह जी वाह, खूब रही। अरबी और फ़ारसी लफ़्ज़ों ही के साथ इस्लामी जज़बात और असरात के क़ायम रहने की इस मुल्क में उम्मीद है। आप लोग अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ों का इस्तेमाल छोड़ देंगे, तो इस सूबे से ख़ासकर और इस मुल्क से आम तौर पर इस्लामी जज़बात और कलचर का नामोनिशान मिट जायगा।"

मैंने डरते हुए जवाब दिया—"मैं इस्लामी जज़बात और असरात का, जैसा आप पर रोशन है, विरोधी नहीं। मैंने जेल में उर्दू पढ़ी, और पढ़ी सिर्फ़ इसलिए कि ग़ालिब, अकबर और उर्दू के अन्य बड़े-बड़े शायरों के कलामों को उन्हीं की ज़बान में पढ़ सकूँ। मैंने अपने बच्चों को भी उर्दू पढ़ाई है। उन्हें उर्दू इसलिए पढ़ाई है कि मेरी यह क़तई राय है कि यह सूबा द्विभाषी है, और इसके रहनेवालों का यह फ़र्ज़ है कि दोनों ज़बानों से वे इक-सां वाक़िफ़ हों। मैं हिन्दू हूँ, मगर पैदायिश से। इसमें मेरा क़ुसूर नहीं। लेकिन मुसलमानों के मज़हब, मुसलिम तहज़ीब, मुसलिम ग्रन्थों की इज़्ज़त करना मैं अपना फ़र्ज़ समझता हूँ। मैंने तो ग़ालिब को पढ़ा। क्या आपने कभी तुलसीदास को पढ़ने का कष्ट उठाया ? क्या वजह है कि अकबर तो आपको प्यारे हों, लेकिन सूरदास और रसखान से आपको कुछ भी मुहब्बत न हो। जिस सूबे में आप पैदा हुए हैं, उसी सूबे में ये लोग भी पैदा हुए थे। उन्होंने अपने-अपने दायरे में कमाल कर दिखाया है। उन्होंने इतने ऊँचे दर्जे की शायरी की है कि इस मुल्क के बाहर भी लोग उनकी तारीफ़ करते हुए नहीं थकते। अगर आपने सूरदास या तुलसीदास को नहीं पढ़ा, तो इसमें नुक़्सान किसका हुआ—आपका या मेरा ? मुझे तो ग़ालिब और अकबर पर उतना ही नाज़ है, जितना तुलसीदास और सूरदास पर। क्या आप भी अपने लिए यह दावा कर सकते हैं ? लेकिन यह सब होते हुए भी अगर मैं 'जनाबे-सद्र' के स्थान में 'सभापति' कहता हूँ, तो आपको कोई शिकायत न होनी चाहिए। इस्लामी जज़बात और असरात किसी के गले के नीचे ज़बरदस्ती नहीं ठूँसे जा सकते। किसी हिन्दी बोलनेवाले ने आज तक कभी कहीं पर यह एतराज़ नहीं किया कि फ़लाँ मुसलमान साहब अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ों की क्यों इतनी अधिक भरमार करते हैं। लफ़्ज़ों के इस्तेमाल में हर एक

को आज़ादी होनी चाहिए। कुछ लफ़्ज़ ज़िन्दा रहेंगे, कुछ मिट जायँगे। यह न मेरे हाथ मे है, और न जनाब के हाथ में। इसका फ़ैसला न मैं कर सकता हूँ, न आप। इसका फ़ैसला जनता करेगी। लफ़्ज़ों के जिलाने और मारने की ताक़त उसी के हाथ मे है। कौन लफ़्ज़ ज़िन्दा रहेंग और कौन मर जायँगे, यह आम लोगो की रुचि पर निर्भर है। रवाज और बोल-चाल ही शब्दों के भाग्य को बनाता और बिगाडता है। आप जिन लफ़्ज़ो को चाहें, इस्तेमाल करें और हमें भी आज़ादी बख़्शें कि जिन लफ़्ज़ो को हम चाहें, इस्तेमाल करें। जनता इस बात को तय करेगी कि मरे इस्तेमाल किये हुए शब्दो को वह पसंद और रायज करेगी या आपके इस्तेमाल किये हुए लफ़्ज़ों को। पंडितों और मौलवियों की मरज़ी के ऊपर यह मुनहसर नहीं कि कौन लफ़्ज़ ज़िन्दा रहें और कौन मर जायँ। सरकारी फ़रमानो और पार्लियामेंट के क़ानूनों के बल पर हम न किसी ज़बान को बदल सकते और न बना सकते हैं। यह तो समाज की ज़रूरत और उस ज़रूरत को व्यक्त करने के लिए शब्दो की शक्ति पर मुनहसर है कि कौन शब्द जनता की ज़बान पर रह जायँगे और किनको समाज भूल जायगा।"

मेरे दोस्त ने फ़रमाया—"बात तो तुम ठीक कहते हो, लेकिन हिन्दुओं की तादाद इस मुल्क में बहुत ज़्यादा है। वे जिन शब्दों को चाहेंगे, वे रायज हो जायँगे, और जिन्हें वे न चाहेंगे, वे रायज न हो सकेंगे। इसलिए इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ो को प्रधानता दी जाय। इसी तरह इस सूबे मे ख़ास तौर से और दूसरे सूबों में आम तौर से अरबी और फ़ारसी के अल्फ़ाज़ रायज रह सकते हैं। अगर ऐसा न होगा, तो इस्लामी असरात का इस मुल्क में ख़ात्मा हो जायगा।"

ऊपर की बातचीत काल्पनिक नहीं। यह मेरे एक बड़े हमदर्द दोस्त के असली ख़यालात का सही उल्लेख है। वे हिन्दी के विरोधी नहीं, सिर्फ़ उर्दू के हामी हैं, और मुसलिम असरात को इस मुल्क में ज़िन्दा रखना चाहते है। ऐसी ही एक बात मि० फ़ज़लुलहक़ ने कुछ दिन हुए, पटने में मुसलिम-शिक्षा-कान्फ्रेंस के सभापति के आसन से व्याख्यान देते हुए, फ़रमाई थी। उनकी दलील थी कि मुसलमानों के लिए उर्दू पढ़ना इसलिए ज़रूरी है कि उनकी मज़हबी किताबें उर्दू-ज़बान और उर्दू लिपि मे लिखी जाती है। जो मुसलमान उर्दू से नावाक़िफ़ है, उसे अपने मज़हब का सही ज्ञान नही हो सकता। मुसलमानों के लिए तो उर्दू पढना एक मज़हबी फ़र्ज़ है।

मियाँ फ़ज़लुलहक़ ने मज़हब की दोहाई दी, और मेरे मुसलिम कांग्रेसी दोस्त ने इस्लामी जज़बात को क़ायम रखने के लिए उर्दू की ज़रूरत बताई।

ऐसी दशा में अगर उर्दू के हिमायती चाहते हैं कि हिन्दू भी उर्दू पढ़ें, और उनकी इस नीति के विषय में अगर हिन्दुओं को संदेह हो, तो कौन-सी अचरज की बात होगी? मैं मानता हूँ, भाषा और संस्कृति में अटूट संबंध है। मैं यह भी मानता हूँ कि भाषा को मिटा देने से किसी जाति या संप्रदाय की आत्मा का समूल नाश हो सकता है। साथ ही, मैं यह भी मानता हूँ कि किसी जीती-जागती भाषा को लाख कोशिश करने पर भी कोई आज तक न मार सका, और न मारने में समर्थ हो सकता है। मैं उर्दू का विरोधी नहीं। उर्दू से मुझे सदैव प्रेम रहा है। मुझे बड़ा अभिमान है कि हमारे सूबे में उर्दू के बड़े-बड़े साहित्यिक पैदा हुए हैं, जिनकी कृतियाँ मेरी सांस्कृतिक बपौती के अटूट अंग हैं, लेकिन मैं यह मानने को तैयार नहीं कि सिर्फ़ वे ही हमारी सांस्कृतिक निधियाँ हैं या उनके अलावा हमारे पास और कुछ है ही नहीं। मैं कालिदास के देश का वासी हूँ। वाल्मीकि और व्यास उसी मुल्क में पैदा हुए हैं, जिसमें मैंने जन्म पाया है। तुलसीदास, सूरदास और विद्यापति उसी मुल्क के रत्नों में से हैं, जहाँ की राख से मैं बना और जहाँ के आबोदाना से मेरी परवरिश हुई। यह महज़ कोरी लफ़्फ़ाज़ी नहीं। मुझे सचमुच जिस तरह तुलसीदास से प्रेम है, उसी तरह ग़ालिब और अकबर से; लेकिन साहित्यिक असहिष्णुता और सांस्कृतिक संकीर्णता को देखकर मेरी तबीअत घबराने लगती है। इधर पाँच-छः महीने से मैंने हिन्दी-उर्दू के मसले पर उर्दूवालों की जो तक़रीरें पढ़ीं, या गर्मागर्म ख़तूत अख़बारों में देखे, उनको पढ़ और देखकर मुझे शर्म आई, और पीड़ा भी हुई। कितने दुर्भाग्य की बात है कि इस सूबे में जो लोग पैदा हुए और पले, वे ही तुलसीदास के प्रति ऐसी भीषण कृतघ्नता प्रकट करें; या जिस ज़बान में इस महापुरुष ने लिखा, उस ज़बान की इन लोगों की निगाह में कोई इज़्ज़त न हो, और उसने जो अनमोल ग्रंथ रचे, उसकी इनकी नज़रों में कोई वक़त न हो! इसमें तुलसीदास का क़सूर नहीं। दुर्भाग्य तो है तुलसीदास के इन हमवतनों का, जो पढ़े-लिखे होने हुए भी अनपढ़ हैं, जो आँखें रहते भी देख नहीं सकते, कान होते हुए भी जो सुन नहीं पाते, सचाई के पास से जो गुज़र जाते हैं, लेकिन सच को पहचान नहीं पाते! ऐसे अर्द्ध-दग्ध जीवों की

तंग-ख़याली पर कुछ कहना अनावश्यक है। उनकी मानसिक अपूर्णता ही उनकी कृतघ्नता का दंड है। ऐसे लोग जब हिन्दी-उर्दू के मसले पर रायज़नी करते हैं, तब तो मैं यह दावा करने के लिए तैयार हूँ कि उनकी राय की न कोई वक़त है, और न उन्हें इस मसले पर राय देने का कोई अधिकार ही है। जो सूबे की ज़बान को ख़ुद नहीं जानता, उसके लिए यह दुस्साहस की बात होगी कि वह इसका फ़ैसला दे कि सूबे की ज़बान कैसी होनी चाहिए। इन कूप-मंडूकों को बाहरी दुनिया का न पता है, न उसकी कुछ जानकारी। फिर वे कैसे हमारे पथ-प्रदर्शक बन सकते हैं? कुएँ के मेंढक अगर कुएँ ही को समुद्र समझ बैठें, और समझे बैठे रहना चाहें, तो हमें उनसे झगड़ने की कोई ज़रूरत नहीं। लेकिन अगर उन्हे हमारे रहनुमा बनने की लालसा सताती है, तो यह ज़रूरी है कि वे बाहरी दुनिया की थोड़ी-बहुत वाक़फ़ियत हासिल कर लें। जो बार एसोशियनों ही को सूबा समझ बैठे हैं, वे सूबे की ज़बान के मसले पर कैसे सही राय क़ायम कर सकते हैं? जिन्हें सार्वजनिक कामों से सूबे के मुख़्तलिफ़ ज़िलों में जाने और वहाँ के देहातियों से बातचीत करने का अवसर मिलता रहता है, वे ही इस बात को बता सकते हैं कि सूबे की असली ज़बान कौन है, और उसमें किस ओर उन्नति की गुंजाइश है। न उर्दूदाँ वकीलों की और न सरकारी मुलाज़िमों की ज़बान को हमें सूबे की ज़बान मान लेनी चाहिए। इनकी ज़बान तो एक मुट्ठी-भर आदमियों की जमात की ज़बान है। सूबे की ज़बान जो आज है, या जो कल होगी, वह हज़ारों, लाखों किसानों के उन जलसों में सुनाई देती है, जो आजकल कांग्रेस की बदौलत ज़िले-ज़िले में हो रहे हैं। वहाँ शहर से गये हुए बाबू लोग अपनी ज़िंदगी में पहली बार सूबे की ज़बान को अब सीखने लगे हैं। वहीं उस नई ज़बान की नींव पड़ रही है, जो न वह हिन्दी होगी, जिसे काशी के कुछ शास्त्री लिखते हैं, और न वह लखनऊ या दिल्ली के मुल्लाओं की ज़बान होगी। वह ज़बान होगी इस देश के खेतिहरों की, हमारे देश के तेली-तमोलियों की। बँगलों में बैठकर लोग चाहे जो कुछ कहें, लेकिन उनके कहने का असर क्या? बहुतों ने उस ख़ब्ती बादशाह की कहानी पढ़ी होगी, जिसने समुद्र की लहरों को आगे न बढ़ने का हुक्म दिया था। शायद उन्हें वह कहानी अब तक याद हो। मैं तो भाषा के डिक्टेटर बनने के आकांक्षियों से विनम्र शब्दों में प्रार्थना करूँगा कि इस कहानी को वे न भूलें, और जब

कभी वे हिन्दी-उर्दू के मसले पर बोलना या लिखना ज़रूरी समझें तब उस नासमझ बादशाह की कहानी को एक बार फिर से याद कर लिया करें। अगर वे ऐसा करेंगे, तो यह कहना नामुनासिब न होगा कि कम-से-कम फ़तवा देते वक़्त वे उस नादान बादशाह की ग़लती को दोहराने के ख़तरे से ज़रूर ही बच जायँगे।

[२]

हिन्दी-उर्दू के मसले के कई पहलू हैं। पहले पहलू का सम्बन्ध लिपि से है। इस सूबे में सिर्फ़ उर्दू-लिपि सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में रायज रहे, या हिन्दी को भी स्थान मिले; बच्चों को इस लिपि में तालीम दी जाय या उस लिपि में? इसी पहलू का एक दूसरा अंग है। वह यह है कि क्या हमारे विद्यार्थियों के लिए दोनों लिपियों का सीखना अनिवार्य कर दिया जाय, या सिर्फ़ छोटे ही दर्जों में? क्या सिर्फ़ ऊँचे दर्जों में एक ही लिपि उनके लिए आवश्यक मानी जाय या शुरू ही से सब लड़कों को एक ही लिपि सिखाई जाय? अगर एक ही लिपि में शिक्षा हो, तो वह कौन-सी लिपि हो? हिन्दी या उर्दू? या लिपि के मामले मे लड़कों के माता-पिताओं को इस बात की आज़ादी दे दी जाय कि वे जिस लिपि में चाहें, उनके बच्चों को उसी लिपि-द्वारा शिक्षा दी जाय? सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में आजकल उर्दू-लिपि रायज है। क्या यही दस्तूर क़ायम रहे, या इसमे रद्दोबदल करने की ज़रूरत है? अगर तबदीली होनी है, तो क्या उर्दू-लिपि निकाल दी जाय, और उसकी जगह पर हिन्दी-लिपि का चलन होने लगे? या हिन्दी और उर्दू दोनों को सरकारी लिपियाँ मान लें? इन प्रश्नों पर मुझे जो कुछ कहना है, उसे पाठक अगले लेख में पायेंगे।

इस समस्या का दूसरा पहलू ज़बान के विषय में है। लिपि चाहे जो रहे, मगर सरकारी दफ़्तरों और अदालतों की ज़बान कौन हो? उर्दू हो या हिन्दी? या न हिन्दी हो और न उर्दू, बल्कि एक नई ज़बान ईजाद की जाय, जो खिचड़ी ज़बान हो, और जो संस्कृत, फ़ारसी तथा अरबी-शब्दों की कीमिया निकालकर गढ़ी जाय? अगर खिचड़ी ज़बान ईजाद करनी है, तो किन उसूलों पर, किन सिद्धांतों पर उस नई भाषा के गढ़ने का काम किया जाय? कितने तोला संस्कृत और कितने रत्ती अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ इस नई ज़बान में रक्खे जायँ? भावों या विचारों को व्यक्त करने के लिए क्या सिर्फ़ संस्कृत ही से शब्द लिये जायँ, या सिर्फ़ अरबी और फ़ारसी ही से?

य गम्भीर और विवाद-ग्रस्त मसले हैं। ऐसी दशा में हिन्दी-उर्दू के मसले का सुलझना आसान नहीं, असंभव-सा प्रतीत होता है। मुझे खुद इस बात में संदेह है कि कोई नौ-ईजाद ज़बान हिन्दी-उर्दू के झगड़े को खत्म कर सकती है। हाँ, यह बात संभव है कि सैकड़ों ज़बानें बोलनेवाले इस मुल्क को एक और नई ज़बान सिखाने की ज़हमत उठानी पड़े, अगर हमारे चंद दोस्तों की कोशिश कामयाब साबित हुई। इस कोशिश का क्या नतीजा होगा? अगर आप इसका अंदाज़ा लगाना चाहते हैं, तो मदरास-प्रांत के लिए जो हिन्दी-पोथी तैयार हुई है, उसे मेहरबानी करके देख लीजिए। वहाँ आप यह पढ़ेंगे कि हिन्दी लड़के अपने घरों में 'दीदी बी नमस्ते' कहते और अमृत को 'इमरत' लिखते और पढ़ते हैं। साथ ही, इस किताब को देखने से आपको यह भी पता लगेगा कि इस सूबे की आम जनता अरबी और फ़ारसी के उन लफ़्ज़ों को बहुतायत से इस्तेमाल करती है, जिनको कम-से-कम मैं और मेरे बहुत-से साथियों ने न इस्तेमाल किया और न उनसे हमारा परिचय ही है। लेकिन इस मामले में मेरा ज़बान खोलना बेअदबी होगी। मैं तो दहक़ानी हूँ, और पोथी के रचयिता बहुश्रुत हैं। आम ज़बान के तो वे स्वयंभू होने के नाते खुद ही माप-दण्ड हैं। जिन शब्दों की बाबत वे यह कह दें कि वे रायज हैं, उन्हीं शब्दों को हमें आम जनता के शब्द मान लेना चाहिए। किसी तरह का शक करना उनके दावे के खिलाफ़ कुफ़्र होगा। लेकिन कुफ़्र हो या न हो, मैं यह कहने का दुस्साहस करता हूँ कि इस तरह की कोशिशें नाकामयाब साबित होंगी, क्योंकि वे असामयिक हैं। असामयिक इसलिए कि वे क़ब्ल-अज़-वक़्त हैं। अभी थोड़े ही दिनों से हिन्दू और मुसलिम कार्यकर्ता वोटरों के पास जाने और जाकर उन्हें समझाने के लिए मजबूर हुए हैं। वोटरों तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए उन्हें झखमार कर उनकी ज़बान सीखने की ज़रूरत महसूस होने लगी है। वे हमारी ज़बान से धीरे-धीरे परिचित हो रहे हैं; हम भी धीरे-धीरे उनकी बोली सीखने लगे हैं। पढ़े-लिखों और अनपढ़ों की इस मुठभेड़ की बदौलत शब्द भी रवाज की कसौटी पर कसे जाने लगे हैं। आजकल भाषा के सोचने की जो यह प्रवृत्ति जारी है, वह अभी चन्द दिनो से ही काम करने लगी है। उसे सफल होने के लिए समय चाहिए। जल्दबाज़ी से काम न बनेगा, उलटे एक आम ज़बान के बनने में बाधा अवश्य पहुँचेगी। इसलिए एक कृत्रिम भाषा बनाने के जो प्रयत्न हो रहे हैं, उनका हमें स्वागत

न करना चाहिए। मेरी यह निश्चित धारणा है कि यदि हम हिन्दी-उर्दू की समस्या को हल करना चाहते हैं, तो दोनों ही के पृथक् अस्तित्व को हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। यह आम जनता खुद ही तय कर लेगी कि किस तरह और कैसे दोनों भाषायें गंगा-जमुना-सी मिलकर एक हो सकती हैं। दोनों ही कभी-न-कभी एक होकर रहेंगी। लेकिन कब और किस रूप में वे एक होगी, यह न मैं कह सकता हूँ और न इसके कहने की मुझे कोई ज़रूरत ही मालूम होती है।

[३]

क्या 'हिन्दी' कहलानेवाली इस सूबे या मुल्क में कोई भाषा भी है? शुरू से उर्दू वाले यह कहते चले आये है कि हिन्दी कोई ज़बान नहीं। तिरस्कार से वे उसे 'भाषा' भी कहने से गुरेज़ करते आये हैं। उसके प्रति अपनी नफ़रत का इज़हार उसे 'भाखा' कहकर किया करते थे, और करते हैं। उर्दू के एक बड़े आलिम न तो यहाँ तक कह डाला कि हिन्दी में कुछ है ही नही, उसमें तो मज़हबी तर्ज़ की चन्द नज्में लिखी गई हैं। उर्दू वाले अब तक कहते है कि हिन्दी के हिमायती संस्कृत के शब्दों को ठूँस-ठाँसकर एक बनावटी ज़बान ईजाद करने की कोशिश में लगे हैं। डा० अब्दुलहक़ तो उसे उर्दू से पैदा हुई बताते हैं। उर्दू दाँ संस्कृत-लफ़्ज़ों से कितना चिढते हैं, इसका अगर आपको सही अन्दाज़ा न हो, तो हाल ही में 'लीडर' मे प्रकाशित श्रीरघुपतिसहाय जी के पत्र को पढ़ लीजिए, जिससे आपको इस बात का पता लग जायगा कि इलाहाबाद में उर्दू-दिवस मनाये जानेवाले जलसे में सर तेजबहादुर सप्रू ने उनके साथ कितनी सख्ती का व्यवहार किया। इस पत्र से आपको मालूम हो जायगा कि सर तेज को हिन्दी या संस्कृत के शब्दों से कितनी नफ़रत है, और उर्दू-दिवस मनानेवालों की असली नीयत क्या है। हिन्दुस्तान मे जो पैदा हुए, वे संस्कृत के शब्दों या उन शब्दों से बने हुए शब्दों से इतना परहेज़ करें, यह क्या कम अचरज की बात है? लेकिन उनकी इस नफ़रत से इस बात का सही अन्दाज़ा हम लगा सकते हैं कि वे हिन्दी को क्यों कृत्रिम भाषा कहते हैं, और क्यों अरबी और फ़ारसी के शब्दों के स्थान में संस्कृत-पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से उन्हें इतनी बचैनी पैदा होती है। उनके लिए अब्दुलरहीम ख़ानखाना, केशवदास, सूरदास, तुलसी-दास, बिहारी, रसखान, जायसी, कबीर, टोडरमल, बीरबल, गंग, मतिराम और देव आदि सब कृत्रिम भाषा लिखने के दोषी थे।

मध्यकालीन युग में व्रजभाषा का बोलबाला था चंडीदास, विद्यापति, सूरदास, नरसीदास मेहता, मीरा और नरोत्तमदास, कबीर, नानक तथा सिक्खों के अन्य गुरुओं ने जिस ज़बान में लिखा, वह सर तेजबहादुर सप्रू और उनके हिमायतियों की नज़रों में कृत्रिम भाषा थी। क्या इन पढ़े-अनपढ़ों को यह नहीं मालूम कि अगर पण्डित मदनमोहन मालवीय की ज़बान को देहाती-से-देहाती आदमी आसानी से समझ लेता है, तो केवल इसलिए कि मालवीय जी उसी ज़बान में उसके सामने बोलते हैं, जिस ज़बान में सूरदास ने सूरसागर लिखा और अगर वही देहाती सर तेजबहादुर सप्रू की ज़बान को नहीं समझ पाता, तो इसका कारण महज़ यही है कि सर तेज उस ज़बान को नहीं बोल सकते, जो देहातियों की ज़बान है, और जिसमें सूरदास और तुलसीदास ने अपने अपने महाग्रन्थों की रचना की। लेकिन सर तेज को देहातियों की क्या परवाह? देहाती समझें या न समझें, उनकी बला से। उनका संसार तो उन फ़ारसीदाँ या अँगरेज़ीदाँ साहबों के महलों तक सीमित है, जहाँ इस मुल्क की आम रियाया की आवाज़ पहुँच भी नहीं पाती। इन्द्र के नंदन-कानन में सैर करनेवाले सर तेज और मुसीबत के सताये हुए कंगाल किसानों में ज़मीन-आसमान का अंतर है। दोनों की दुनिया जुदा-जुदा हैं। और, इसलिए सर रज़ाअली या सर तेजबहादुर सप्रू अगर यह कहें कि हिन्दी कोई ज़बान नहीं, और शम्सुलउल्मा अपने मकतबों में बैठकर यह पढ़ायें कि हिन्दी का कोई साहित्य नहीं, तो इसमें अचरज की क्या बात? अँगरेज़ी सरकार के हिमायतियों और जनता के दृष्टि-कोण में, जैसे और बातों में, वैसे ही इस ज़बान के मसले में अगर व्यापक भेद है, तो इसमें ताज्जुब की क्या बात? उनके ख़यालात हमारे ख़यालात नहीं, उनकी तमन्नायें हमारी तमन्नायें नहीं, उनका परलोक हमारा परलोक नहीं। हम ग़रीबों के सेवक हैं, वे सरमाएदारी के पूज्य। उनकी ज़बान और हमारी भाषा में अगर मेल नहीं खाता, तो ऐसा होना स्वाभाविक है। हमें अफ़सोस इस बात का है कि जिस मसले को वे नहीं समझते, उस पर रायज़नी करने के लिए हमेशा व्याकुल रहते हैं। फ़तवे निकालने का तो उन्हें मर्ज़-सा हो गया है। इससे किसी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। लेकिन क्या उनसे अदब के साथ हमारा यह कहना मुनासिब न होगा कि जब वे लोग हिन्दी की बाबत लिखने बैठें या बोलने के लिए खड़े हों, तब उन्हें कम-से-कम हिन्दी पढ़ने और उसके साहित्य

से अपने को परिचित करने के लिए थोड़ा बहुत कष्ट उठाना उचित है। अगर वे सब हिन्दी-साहित्य के इतिहास को पढ़ें, और उस साहित्य के महारथियों की कृतियों का रसास्वादन करें, तो उन्हें इस बात का पता लग जायगा कि हिन्दी कोई नौईजाद चंदरोज़ा ज़बान नहीं, इसकी तो जड़ें हमारे भूतकाल में धँसी पड़ी हैं। मध्यकालीन भारत में इसका साहित्य इतना बढ़ा और बढ़ते-बढ़ते इतना ऊँचा उठ गया कि इसे दुनिया की अन्य ज़बानों के मुक़ाबिले में बराबरी का दावा करने का हक़ हासिल है। ग़ालिब की क़लम ने सचमुच कमाल किया है, लेकिन सूर और तुलसी के मुक़ाबिले में ग़ालिब का क्या स्थान है? जिस क्षेत्र को सूरदास ने अपनाया, उस क्षेत्र में, मैं यह दावे के साथ कहता हूँ, संसार के किसी दूसरे कवि ने वह सफलता नहीं पाई, जो सूर को सहज ही में प्राप्त है। अपने क्षेत्र में सूर अछूता है। जिस विषय पर उसने लिखा है, उस पर लिखने में आज तक कोई समर्थ नहीं हुआ। इसी लिए अधिकारी समालोचकों की यह सम्मति है कि सूर ने जो कुछ कहा, उसी की जूठन दूसरे कवियों ने पाई। लेकिन इस सूबे में पैदा होनेवाले जो लोग इस बात का नाज़ करते हैं कि वे इँगलैंड के शेक्सपियर की तो कृतियों को पढ़कर आनन्दोल्लास से एक अँगरेज़ की तरह विह्वल हो सकते हैं, वे ही कितनी लज्जा की बात है, न तो सूर को पढ़ सकते हैं, और न तुलसीदास की रामायण का रस चख सकते हैं। कार्लाइल ने एक जगह कहा है कि अगर कोई मुझसे पूछे कि शेक्सपियर को रक्खोगे या इंगलैंड के साम्राज्य को, तो मैं निःसङ्कोच इँगलैंड के साम्राज्य को ठुकरा दूँगा, और शेक्सपियर के ग्रन्थों को अपना लूँगा। इनके मुक़ाबिले में साम्राज्य नगण्य चीज़ है, क्योंकि वह नश्वर है, और इँगलैंड की अन्तरात्मा का अमर स्वरूप शेक्सपियर की कृतियों में व्यक्त है। कहाँ कार्लाइल की यह उक्ति, और कहाँ हमारे पढ़े-लिखे चन्द बाबू लोगों का यह हाल कि अगर उन्हें मौक़ा मिले, तो वे न सिर्फ़ सूर और तुलसी को ठुकरा ही दें, बल्कि उनकी कृतियों में आग लगा देने पर भी उतारू हो जायँ! उनकी दृष्टि में सूर और तुलसी का कोई महत्त्व नहीं। मध्यकालीन युग के उत्तरी भारत में सूर और तुलसी के समान कोई दूसरा आदमी नहीं पैदा हुआ। अकबर, टोडरमल, अबुलफ़ज़ल और बीरबल, सब इन दो साहित्यिक महारथियों के मुक़ाबिले में तुच्छ हैं। ताजमहल या दिल्ली का क़िला इनकी तुलना में नगण्य है। इनकी कृतियाँ

हमारे जातीय जीवन की अमर कहानियाँ हैं। कौन फ़िरदौसी को महमूद ग़ज़नवी के मुक़ाबिले नीची गद्दी देता है ? फ़िरदौसी अमर है। उसने साहित्यिक जगत् में जो काम कर दिखाया, उसके मुक़ाबिले में महमूद के हिन्दोस्तान पर २१ हमलों का इतिहास की गति पर उतना ही स्थायी चिह्न है, जितना पानी पर खिंची हुई लकीर का। लेकिन हमारे उर्दूदाँ भाई सूरदास और तुलसीदास को अपनी सांस्कृतिक बपौती का अंग मानने के लिए तैयार नहीं। कम-से-कम श्रीरघुपतिसहायजी का यह कटु अनुभव है। इन विद्वानों का यह कहना है कि हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण, महावीरप्रसाद द्विवेदी, सदल मिश्र और लल्लूलाल ने अगर हिन्दी में लिखा, तो लिखा ऐसी ज़बान में जिसका कोई अस्तित्व नहीं, जिसका कहीं प्रचार नहीं, और जो जन्म ही से बनावटी एवं कृत्रिम थी।

नहीं, यह कहना सरासर ग़लत है कि हिन्दी कोई बनावटी ज़बान है। यह ग़लत है कि हिन्दीवाले उर्दू के विद्वेष से प्रेरित या मुसलिम विरोध से प्रभावित होकर संस्कृत के शब्दों को ठूँस-ठाँसकर एक नई ज़बान ईजाद करने में लगे हुए हैं। हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, शिवसिंह, महावीरप्रसाद और बालमुकुन्द गुप्त ने संस्कृत-शब्दों को जहाँ अपने लेखों और किताबों में इस्तेमाल किया है, वहाँ वे बहुत काफी तादाद में अरबी और फ़ारसी के शब्दों के प्रयोग से भी नहीं हिचके हैं। द्विवेदीजी तो अपने ग्रन्थों में अपनी भाषा के प्रवाह की परवाह न कर स्थान-स्थान पर संस्कृत के शब्दों के साथ-साथ फ़ारसी और अरबी के पर्यायवाची शब्दों को स्थान देते गये हैं। उन्होंने उस ज़बान में लिखना मुनासिब समझा, जिसे सूबे की दोनों ज़बानों के बोलनेवाले आसानी से समझ लें। इस ज़बान के लिए संस्कृत के शब्द अपने शब्द हैं। वह तो ख़ुद संस्कृत की कोख से पैदा हुई है। वास्तव में संस्कृत की वह रूपांतर है। फ़ारसी और अरबी के शब्द उसके लिए विदेशी शब्द हैं। इसी लिए यदि द्विवेदी, हरिश्चन्द्र या तुलसीदास और सूरदास ने अपनी किताबों में संस्कृत-शब्दों को अपनाया, तो उन्होंने एक स्वाभाविक बात की। उनका ऐसा न करना अस्वाभाविक होता। सवाल यह नहीं है कि हिन्दी में संस्कृत-शब्द आयें या न आयें। सवाल तो यह है कि उसमें बाहरी ज़बानों से शब्द लिये जायँ या न लिये जायँ ? हर शब्द के लेने के पहले हमारे लिए यह सोचना अनिवार्य है कि क्या ग़ैर-ज़बान के किसी शब्द-विशेष को लिये बिना

हमारा काम नहीं चल सकता ? अगर चल सकता है तो कोई जरूरत नही कि हम एकदम बाहरी ग़ैर-ज़बान के शब्दों को लेकर अपनी ज़बान बिगाड़ें। लेकिन जो लोग अरबी और फ़ारसी के न केवल शब्द लेते हैं, बल्कि अरबी और फ़ारसी के व्याकरण-सम्बन्धी नियमों तक का खुलेआम, दिन-दहाड़े, बिना संकोच, इस्तेमाल करते हैं, वे स्वयं नाक-भौं सिकोड़ते हैं संस्कृत-शब्दों के इस्तेमाल पर !

[४]

गाज़ी कमाल अता तुर्क की प्रशंसा में हिन्दू-मुसलमानों ने हाल ही में बड़े लंबे-चौड़े व्याख्यान दे डाले, या अख़बारों में अपनी श्रद्धाजलियाँ प्रकाशित कराईं। कमाल अता तुर्क की यह बात क्या उन्हें नहीं मालूम कि उसने तुर्की ज़बान से उन तमाम अरबी और फ़ारसी के शब्दों को निकाल बाहर कर दिया है, जो वहाँ मुल्लाओं की कोशिशों के फल-स्वरूप तुर्की-ज़बान में जगह पा गये थे। कमाल पाशा के पहले तुर्की-भाषा में २४ सैकड़ा अरबी और ४० सैकड़ा फ़ारसी के शब्द थे। इन सब परदेशी शब्दों को उसने तुर्की-भाषा से निकाल फेंका। लेकिन कमालपाशा के इन्हीं भारतीय भक्तों ने हिंदोस्तान के रहनेवालों के लिए यह मुनादी करा दी है कि वे संस्कृत के लफ़्ज़ों का इस्तेमाल न करें, उन्हें तो ग़ैर-ज़बान के लफ़्ज़ों का इस्तेमाल करना चाहिए; और अगर वे ऐसा नहीं करते तो वे जाति-द्रोह तथा साम्प्रदायिक मनोमालिन्य फैलाने के दोषी हैं !

[५]

हम यह नहीं कहते, हमारी यह धारणा भी नहीं, कि जो सज्जन संस्कृत के पर्यायवाची शब्दों का बदले अरबी या फ़ारसी के शब्दों का इस्तेमाल करना चाहते हैं, वे ऐसा न करें। उन्हें इस मामले में पूर्ण आज़ादी होनी चाहिए। लेकिन जो आज़ादी हम उन्हें देते हैं, वही हम अपने लिए भी चाहते हैं। जैसे उन्हें संस्कृत-शब्दों का प्रयोग करने के लिए, अनिच्छा होने पर, कोई मजबूर नहीं कर सकता, और अगर कोई उन्हें मजबूर करे, तो मैं उसका घोर विरोध करूँगा, वैसे ही किसी दूसरे को यह हक़ नहीं हासिल है कि वह मुझे संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करने से रोके, यदि मैं ऐसा करना ठीक समझूँ। हिन्दी-उर्दू के मसले के पीछे मानसिक आज़ादी के उसूल उठते हैं। हम किसी की आज़ादी पर आघात नहीं करना चाहते; लेकिन साथ ही हम अपनी आज़ादी का अपहरण भी नहीं होने देना चाहते। उर्दूदाँ अपने लिए तो भाषा के मामले में आज़ादी चाहते हैं; लेकिन

उसी हद तक वे दूसरों को आज़ादी देने के लिए तैयार नहीं। हिटलरी विष केवल जर्मनी तक ही सीमित नहीं। ज़बान के मामले में इस तरह की तानाशाही या धींगाधींगी बरसों से इस सूबे में मच रही है। लेकिन अब इसका अंत हो जाना चाहिए। इसका अंत तभी होगा, जब हम नेकनीयती के साथ काम करें, और हिन्दी के खिलाफ़ झूठे प्रोपेगेंडा का अन्त कर दें। हिन्दी इस सूबे की जनता के एक भाग की मानसिक और आध्यात्मिक ज़रूरियात को पूरा करने का उसी तरह साधन है, जैसे जनता के दूसरे भाग की ज़रूरियातों की पूर्ति का साधन उर्दू। इस सत्य को स्वीकार करने में किसी को संकोच न होना चाहिए। इसी वास्तविक घटना को मानकर हिन्दी-उर्दू की समस्या का निपटारा सहूलियत के साथ हो सकता है। हिन्दी होती या न होती, उर्दू रहती या न रहती—ये सवाल तो हमारे सामने अब हैं नहीं। उर्दू है, उसके अस्तित्व से जो इनकार करे, वह या तो मूर्ख है या पाखंडी। इसी तरह हिन्दी है। हमें मानना पड़ेगा कि वह मौजूद है; और उसके अस्तित्व से जो इनकार करता है, वह या तो मूर्ख है या धूर्त। इसलिए हम शुद्ध हृदय से मानते हैं कि हमारे सूबे में उर्दू एक जीती-जागती ज़बान है, उसी तरह, जैसे इस सूबे की दूसरी ज़बान हिन्दी है। दोनों ही ज़बानें रोज़मर्रा की ज़रूरियात और मानसिक एवं सास्कृतिक आवश्यकताओं का अपने-अपने क्षेत्रों में पूर्ण करने में सहायता पहुँचाती हैं।

[६]

मेरी यह व्यक्तिगत राय है कि सूबे की मौजूदा हालत में हमें यह मुक्तकंठ से स्वीकार करना चाहिए कि यह द्विभाषी सूबा है। मैं इस दावे को नहीं स्वीकार करता कि हमारे सूबे में आज-दिन एक ही भाषा रायज है। मुझे मालूम है, बहुत-से मेरे सम्मानित नेता और मित्र मेरे इस विचार से सहमत न होंगे। उनके कथनों में, मैं स्वीकार करता हूँ, सत्य का अंश है। हमारी बोली में समानता अवश्य है, लेकिन बोली भाषा नहीं, और भाषा को बोली का पर्याय-वाची बनाने की ज़रूरत नहीं। सूबे की बोलियों में भी अधिकांश शब्दों की समानता है। उन शब्दों के अर्थों में समानता है और उनके प्रयोग-सम्बन्धी नियमों में भी। इस दृष्टि से उच्चारण-सम्बन्धी स्थानिक भेदों को यदि हम नज़र-अन्दाज़ कर दें, तो यह कहना ग़लत न होगा कि इस सूबे की बोली एक है। उस बोली के शब्द जहाँ तक हिन्दी या उर्दू में व्यवहृत होते हैं, वहाँ तक

दोनों भाषाओं में समानता है। लेकिन, जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, 'बोली' 'भाषा' नहीं और 'भाषा' 'बोली' नहीं। 'बोली' 'भाषा' का स्थान नही ले सकती। 'बोली' में सब तरह के भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिल सकते। बहुत ही साधारण बातों को 'बोली' के शब्दों में हम व्यक्त कर सकते हैं। भावों और विचारों की सूक्ष्मता एवं जटिलता को अथवा वैज्ञानिक, पारिभाषिक, दार्शनिक और जीवन-विषयक गहन-गंभीर समस्याओं को जब हम शब्दों में प्रकट करने की कोशिश करेंगे, तब या तो हमें नये शब्द गढ़ने की ज़रूरत होगी, या प्रचलित भाषाओं मे शब्द उधार लेने पड़ेंगे। उर्दू वाले फ़ारसी और अरबी के शब्दों को व्यवहृत करने के लिए इसी लिए विवश हैं कि वे देशी भाषाओं की तुलना में इन दो परदेशी ज़बानों को कई कारणों से अधिक महत्त्व देते और उनके प्रति अधिक अपनपौ दिखाते हैं। परदेशी को अपनाना और स्वदेशी से मुंह मोड़ना पराधीनता का प्रधान लक्षण है। यह प्रवृत्ति ठीक हो या ग़लत, इससे मुझे यहाँ कोई सरोकार नहीं, सरोकार सिर्फ़ इस बात को मान लेने से है कि यह प्रवृत्ति हमारे यहाँ मौजूद है, और इसी के कारण हमारे सूबे में दो भाषाओं की उत्पत्ति हुई और उनका प्रचार है। ऐसी दशा में हमे हिन्दी और उर्दू के जुदा-जुदा अस्तित्व को स्वीकार कर लेना चाहिए। दोनों इस सूबे की दो भाषायें हैं, दो बोलियाँ नही। दो भाषायें यदि न होतीं, तो अच्छा होता। लेकिन हम अपनी इच्छाओं से वास्तविकता पर हरताल नहीं फेर सकते। जो है, वह है; उसे आँख-मिचौनी से हम मिटा नहीं सकते। और यदि हम मिटाने की चेष्टा भी करेंगे, तो हमें घटना की पथरीली चट्टान पर सिर पटकना पड़ेगा। यह मानकर ही कि हमारा प्रान्त द्विभाषी है, हमें हिन्दी-उर्दू के झगड़े का ऐसा निपटारा करना चाहिए, जिससे दोनों जमातों की तसल्ली हो सके। इसी बुनियाद को सही मानकर हम आगे बढ़ और इस बात की धीरे-धीरे कोशिश भी कर सकते हैं कि आगे फिर दोनों भाषायें मिलकर एक हो जायँ। लेकिन इस समय, जब भाषायें दो हैं, उन्हें एक भाषा कह कर फ़ैसला देना झगड़े को मिटाना नहीं, उसे बढ़ाना होगा।

हिन्दी और उर्दू की समस्या

[१]

इस लेख में मैं निम्नलिखित सवालों पर विचार करूँगा—

(१) इस सूबे में उर्दू के मुक़ाबिले में हिन्दी का कितना चलन है, और इस चलन में पिछले ४७ साल, अर्थात् सन् १८९०-१९३६ में क्या क्या रद्दोबदल हुए ?

(२) इन परिवर्तनों पर विचार करने से हम किन नतीजों पर पहुँचते हैं ?

(३) हिन्दी और उर्दू में कौन-से भेद हैं, और उन भेदों के मिटाने का क्या मार्ग है ?

(४) नये शब्द कहाँ से लिये या कैसे बनाये जायँ—अरबी, फ़ारसी या संस्कृत से ?

(५) लिपि और भाषा के विषय में हमारी क्या नीति होनी चाहिए ?

(६) शिक्षा किस लिपि और भाषा में दी जाय ?

आइए, प्रथम प्रश्न पर विचार कर देखें कि इस सूबे में हिन्दी की क्या दशा है। युक्त-प्रान्त में प्रकाशित होनेवाली सब प्रकार की हिन्दी और उर्दू की पत्र-पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्या, दोनों भाषाओं में प्रकाशित पुस्तकें, एवं वर्नाक्यूलर मिडिल इम्तिहान में हिन्दी-उर्दू लेनेवाले परीक्षार्थियों और हाई स्कूल-इक्ज़ामिनेशन में शरीक़ होनेवाले विद्यार्थियों की संख्या हम आगे पाँच कोष्ठकों में देते हैं। ये आँकड़े सरकारी रिपोर्टों से लिये गये हैं। अतएव इन्हें प्रामाणिक समझना चाहिए।

(१) पत्र-पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्या

वर्ष	हिन्दी	उर्दू	योग	प्रतिशत हिन्दी	प्रतिशत उर्दू
१८९१	८,००२	१६,२५६	२४,२५८	३२·९	६७·१
१९०१	१७,४१९	२३,७५७	४१,१७६	४२·०	५८·०
१९११	७७,७३१	७६,६०८	१,५४,३३९	५०·३	५९·७
१९२२	२,१५,१२४	१,४०,८४६	३,५५,९७०	६०·४	३९·६
१९३१	२,३५,४३८	१,५०,५५६	३,८५,९९४	६०·९	३९·१
१९३६	३,२४,८८०	१,८२,४८५	५,०७,३६५	६४·०	३६·०

(२) हिन्दी या उर्दू लेकर वर्नाक्यूलर फाइनल परीक्षा में बैठनेवाले परीक्षार्थियों की सूची

वर्ष	हिन्दी	उर्दू	योग	प्रतिशत हिन्दी	प्रतिशत उर्दू
१८९०	९२७	३,२१५	४,१४२	२२·४	७७·६
१९००	अप्राप्त	अप्राप्त			
१९१०	”	”			
१९२०	६,५९६	४,८६०	११,४५६	५७·५	४२·५
१९३०	१५,९३४	१०,७८०	२६,७१४	५९·६	४०·४
१९३६	२०,१८८	१४,२८८	३४,४७६	५८·६	४१·४

(३) हिन्दी और उर्दू लेकर हाई स्कूल परीक्षा में बैठनेवाले परीक्षार्थियों की तालिका

वर्ष	परीक्षा देनेवालों की कुल संख्या	हिन्दी लेनेवाले	उर्दू लेनेवाले	प्रतिशत हिन्दी	प्रतिशत उर्दू
१९२२	५,२१४	२,८६१	२,३५३	५४·८	४५·२
१९२५	५,९२७	३,०६४	२,८६३	५१·७	४८·३

वर्ष	परीक्षा देनेवालों की कुल संख्या	हिन्दी लेने-वाले	उर्दू लेने-वाले	प्रतिशत हिन्दी	उर्दू
१९३०	७,८८३	४,१६२	३,७२१	५२·७	४७·३
१९३५	११,७१८	६,५१९	५,१९९	५५·६	४४·४
१९३८	१३,०९१	७,४३९	५,६५२	५६·८	४३·२

(४) इंटर मांडिएट परीक्षा में हिन्दी पर उर्दू लेकर बैठनेवाले परीक्षार्थियों की तालिका

वर्ष	योग	हिन्दी लेने-वाले	उर्दू लेने-वाले	प्रतिशत हिन्दी	उर्दू
१९२६	५	२	३	४०·०	६०·०
१९३०	७९८	४८१	३१७	६०·२	३९·८
१९३५	१,७०९	९६९	७४०	५६·६	४३·४
१९३८	१,८८७	१,१५३	७३४	६१·६	३८·४

(५) पुस्तकें

वर्ष	हिन्दी	उर्दू	योग	प्रतिशत हिन्दी	उर्दू
१८८९–१८९०	३६१	५६९	९३०	३८·८	६१·२
१८९९–१९००	४९९	४८२	९८१	५०·८	४९·२
१९१०–१९११	८०४	४३६	१,२४०	६४·०	३६·०
१९१९–१९२०	९९३	२८६	१,२७९	७७·६	२२·४
१९२९–१९३०	१,९९१	३४८	२,३३९	८५·०	१५·०
१९३५–१९३६	२,१३९	२५२	२,३९१	८९·५	१०·५

ऊपर दिये हुए इन आँकड़ों की लंबी-चौड़ी व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं। उनसे जो बातें सिद्ध होती हैं, उनकी ओर संकेत-भर कर देना काफ़ी होगा। पहली बात यह है कि यद्यपि इस सूबे में प्रकाशित होनेवाली हिंदी और उर्दू की पत्र-पत्रिकाओं की संख्या लगभग समान है, परन्तु दोनों प्रकार के समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं की

ग्राहक-संख्याओं में व्यापक अंतर है। हिंदी-पत्र-पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्या जहाँ लगभग ३ लाख २५ हज़ार है, वहाँ उर्दू-पत्र-पत्रिकाओं की ग्राहक-संख्या पौने दो लाख से कुछ ही अधिक है। पत्रों की और उनके ग्राहकों की संख्याओं के लिहाज़ से भी हिन्दी-पत्र-पत्रिकायें उर्दू-पत्र-पत्रिकाओं से और भी आगे निकल जातीं, यदि दो-तीन विशेष कारण बाधक न होते। पहली बात यह कि उर्दू के पत्रों के निकालने में बहुत स्वल्प पूँजी की आवश्यकता होती है। लीथो में छपने के कारण उर्दू-अख़बारों के संचालन में ज़्यादा पैसों की ज़रूरत नहीं पड़ती; लेकिन हिंदी में, आप चाहे जैसा पत्र क्यों न निकालें, आपको उसे छपवाने का इंतज़ाम करने में अपेक्षाकृत अधिक पूँजी की ज़रूरत पड़ेगी। इसलिए कोई अचरज की बात नहीं यदि, और कारणों के न होने पर भी, हिंदी-पत्रों की वृद्धि के मार्ग में यह एक बहुत बड़ी व्याधि सिद्ध हुई है। अधिक लागत के अलावा, एक राजनीतिक कारण भी पिछले वर्षों में उपस्थित था, जिसने न केवल इनकी वृद्धि ही को रोक दिया, बल्कि इनकी संख्या को भी घटा दिया। वह कारण यह था कि हिंदी-अख़बारों और प्रेसों ही से ज़्यादातर ज़मानतें ली गईं। सन् १९३६ में लगभग ५० अख़बार केवल इसलिए बंद हुए कि उनसे ज़मानतें माँगी गईं, और वे या तो ज़मानत न दे सके, या उन्होंने देना पसंद न किया। हिंदी के ऐसे ५० अख़बारों और प्रेसों के मुक़ाबिले में उर्दू के सिर्फ़ २ या ४ प्रेसों से ज़मानतें माँगी गईं। अगर ऐसा हुआ न होता, तो न केवल इन्हीं ६० अख़बारों का प्रकाशन बंद होता या रुक जाता; बल्कि और भी बहुत-से लोग, जो अख़बार निकालना चाहते थे, लेकिन जिन्होंने ज़मानत के भय से उस इरादे को तर्क कर दिया, वे भी अख़बार निकालने लगते। यदि इस तरह की राजनीतिक बाधायें न होतीं, तो हिंदी-अख़बारों की संख्या उर्दू-अख़बारों के मुक़ाबिले में कहीं अधिक हो गई होती, और उनकी ग्राहक-संख्या इनकी ग्राहक-संख्या से दुगुनी के बजाय कई गुनी

अधिक हो जाती। इससे यह स्पष्ट है कि इस सूबे में हिंदी-अख़बारों की जितनी माँग और खपत है, उतनी माँग और खपत उर्दू-अख़बारों की होनी संभव नहीं; क्योंकि इस सूबे की अधिकांश जनता हिन्दी-भाषा-भाषी है, न कि उर्दू-भाषा-भाषी। लिहाज़ा जो लोग यह दावा पेश करते हैं कि इस सूबे की ज़बान सिर्फ़ उर्दू है, या यहाँ की अधिकांश जनता उर्दू-भाषा बोलती है, उनके इस कथन को ऊपर के आँकड़े निस्सार और निराधार साबित करते हैं।

इसी तरह, आइए, वर्नाक्यूलर-फ़ाइनल और हाईस्कूल की परीक्षाओं के आँकड़ों की ओर एक नज़र डालें, पिछले ४६ साल में दोनों ही परीक्षाओं में हिन्दी लेनेवाले परीक्षार्थियों की संख्या बढ़ी। यह सही है कि उर्दू-परीक्षार्थियों की संख्या में भी वृद्धि हुई। लेकिन जहाँ पहले की संख्या १०० में ५६ है, वहाँ दूसरे की सख्या १०० में ४४ है, और वह भी तब, जब इस समय हमारे सूबे के सरकारी दफ़्तरों, डिस्ट्रिक्टबोर्डों, म्युनिसिपैलिटियों और सरकारी अदालतों में उर्दू का बोलबाला है, जिसके कारण इन दफ़्तरों में नौकरी करनेवालों को बरबस उर्दू पढ़नी पड़ती है। अगर सरकारी दफ़्तरों और अदालतों की ज़बान उर्दू न हो, तो क्या ऊपर के आँकड़ों को देखने के बाद इसमें कुछ सन्देह रह जाता है कि इस सूबे में हिन्दी लेनेवाले परीक्षार्थियों की संख्या बहुत बढ़ गई होती। हिन्दी या उर्दू मिडिल में जहाँ १८९० में केवल २३ फ़ी सदी लड़कों ने हिन्दी ली थी, वहाँ १९३६ में ५८ फ़ी सदी ने ली, अथवा उनकी संख्या में प्रतिशत वृद्धि १३० सैकड़ा हुई, और उर्दूवालों में ७७ प्रतिशत से ४२ प्रतिशत अथवा ३७ प्रतिशत का ह्रास हुआ। उर्दू पढ़नेवाले विद्यार्थियों की मौजूदा संख्या कृत्रिम कारणों से इतनी भी है, लेकिन दिन-पर-दिन वह घटती जा रही है।

अपने उपर्युक्त कथन की सचाई सिद्धि करने के लिए सिर्फ़ इन्हीं दो तरह के आँकड़ों का आश्रय हम नहीं लेना चाहते। जिन आँकड़ों

की ओर अब हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे, उनसे तो यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जायगी कि इस सूबे की ज़बान हिन्दी है और उसके बोलनेवाले न सिर्फ़ ज़्यादा हैं, बल्कि इतने ज़्यादा हैं कि उनके मुक़ाबिले में दूसरी ज़बान के बोलनेवालों की तादाद मुट्ठी-भर रह जाती है।

इस सूबे में १८९० में हिन्दी-उर्दू की जितनी किताबें प्रकाशित हुईं, उनमें हिन्दी का पुस्तकों की संख्या ३९ और उर्दू की ६१ प्रतिशत थी। लेकिन १९३६ में जितनी पुस्तक हिन्दी-उर्दू में प्रकाशित हुईं, उनमें ८९ फ़ी सदी से अधिक हिन्दी की पुस्तकें और लगभग १० फ़ी सदी उर्दू की थीं। उर्दू-पुस्तकों की छपाई बेहद सस्ती है। हिंदी की पुस्तकों का प्रकाशन महँगा है। इसलिए उर्दू की पुस्तकें सस्ते दामों पर बिकती हैं, और हिन्दी की पुस्तकों का दाम प्रायः अधिक होता है। इस पर भी इस सूबे के पढ़नेवालों ने महँगी किताबों को ज़्यादा ख़रीदा, और सस्ती किताबों को कम। इसकी क्या वजह है? क्या इसकी वजह साम्प्रदायिक भेद है, या इसकी वजह यह है कि हिन्दी की किताबें जिस ज़बान में लिखी जाती हैं, उसी ज़बान को इस सूबे के अधिकांश लोग बोलते हैं? पागलख़ाने के बाहर जितने आदमी आपको मिलेंगे, वे सब इस बात को स्वीकार करेंगे कि लोग उन्हीं किताबों को ख़रीदना पसन्द करते हैं, जिनकी ज़बान को वे समझ सकते हैं, और उस ज़बान की किताबों को वे न ख़रीदेंगे, जिसे न वे बोलते और न समझते हैं। इँगलैंड में अँगरेज़ी किताबों के मुक़ाबिले में जर्मन या फ्रेंच किताबें कम बिकेंगी। जितनी बंगला किताबें बङ्गाल में बिकती हैं, उतनी इस सूबे में नहीं, और न इस सूबे में मराठी किताबों का उतना चलन है, जितना महाराष्ट्र में। इसका कारण सिर्फ़ यही है कि इस सूबे की ज़बान न बँगला है और न मराठी। अगर इस सूबे की ज़बान उर्दू होती, तो यहाँ उर्दू की किताबों का सबसे अधिक चलन होता, और उसी ज़बान में ज़्यादातर किताबें प्रकाशित होतीं। जब उर्दू

में कम और हिन्दी में ज़्यादा किताबें प्रकाशित होती हैं, तब तो इसमें सन्देह करने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि हिन्दी-किताबों की ज़बान के यहाँ के आदमी आसानी से समझ लेते हैं, और उर्दू-किताबों की ज़बान उनकी ज़बान नहीं है।

[२]

संयुक्त-प्रांत की असेम्बली के सदस्यों में मेरे अनेक मित्र हैं। उनमें हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही शामिल हैं। इनमें से एक मुसलमान मित्र से इसी विषय पर मेरी बातें हुईं। मैंने उनसे पूछा "कि आजकल उर्दू के अख़बारनवीसों ने हिन्दी-उर्दू के मसले को लेकर क्यों शोर-गुल मचा रक्खा है।"

"उन्होंने जवाब दिया कि इस सूबे के माननीय शिक्षा-मन्त्री महोदय ने जो तक़रीर की उसकी वजह से यह तूफ़ान बरपा हो गया है।"

"मैंने पूछा, जनाब, वज़ीर साहब ने अपनी तक़रीर में क्या फ़रमाया था?"

जवाब मिला कि "अपनी उस तक़रीर में वज़ीर साहब ने हिन्दी की हिमायत की थी।"

"मैंने कहा, तो इसमें उनका क्या क़ुसूर है, उनकी क्या ख़ता है, जिसकी वजह से उर्दू-अख़बारनवीस उनसे इस क़दर ख़फ़ा हो गये!"

मेरे दोस्त ने फ़रमाया, "देखो जी, इस सूबे की ज़बान उर्दू है। हम जो ज़बान बोलते हैं, वह उर्दू है।

हमारे देहाती भाई भी उर्दू ही बोलते हैं। आपकी इस मामले में क्या राय है? क्या तुम समझते हो कि सूबे की ज़बान उर्दू नहीं है?"

मैंने बड़े विनम्रतापूर्वक जवाब दिया कि आप जब फ़रमाते हैं कि इस सूबे की ज़बान उर्दू है, तब मैं इससे किस तरह इनकार कर सकता हूँ। ऐसी दशा में मेरे लिए यह कहना कि इस सूबे की ज़बान उर्दू नहीं है, अनुचित होगा।"

मेरे दोस्त बहुत ख़ुश हुए, मेरी तारीफ़ भी की। बोले—"वाह-वाह तुम बड़े साफ़गो आदमी हो। अब तुम्हीं देखो, गर इस सूबे की ज़बान उर्दू है, तो वज़ीर साहब को इस तरह ग़लत-बयानी करने की क्या ज़रूरत थी, ख़ासकर जब उनकी ग़लत-बयानी की वजह से मुसलमानों को सदमा पहुँचता है?"

मैं ख़ामोश रहा, लेकिन मेरे दोस्त ने इसरार किया कि मैं कुछ कहूँ। मेरा ख़ामोश रहना अच्छा होता, लेकिन ख़ामोश रहने की उन्होंने मुझे इजाज़त न दी। ख़ैर, मैंने बहुत अदब से जो अर्ज़ किया, उसका खुलासा नीचे देता हूँ।

मैंने कहा—"जनाब, हम दोनों अपनी-अपनी पैदाइश के वक्त पल्ले दर्जे की हिमाक़त दिखलाई।" (19)

मेरे दोस्त चौंक पड़े। बोले, "हम लोगों ने क्या हिमाक़त की?"

मैंने कहा, "अल्लाह मियाँ के यहाँ से जब हम दोनों रवाना हुए, उस समय हम लोगों ने बेवक़ूफी में एक ही नम्बरी सूबे को अपनी पैदाइश के लिए चुना, जिसके रहनेवाले इतने ज़ब्ती और बेवक़ूफ हैं, कि दुनिया में उनकी कहीं मिसाल न मिलेगी"

मेरे दोस्त ने चौंककर पूछा, "आप ऐसा क्यों कहते हैं?"

मैंने अर्ज़ किया, "हुज़ूर, दुनिया के पर्दे में ऐसा और कौन दूसरा मुल्क या सूबा मिलेगा, जहाँ के लोग इतने नम्बरी बेवक़ूफ़ हों कि ऐसी ज़बान में लिखी हुई किताबों को ज़्यादा ख़रीदें, जिसे वे ख़ुद नहीं समझते; या जिस ज़बान को वे समझते हैं, उस ज़बान में लिखी हुई किताबों की कुछ भी क़द्र न करें। यद्यपि इस सूबे की ज़बान उर्दू है, तो भी यहाँ के लोग ९० प्रतिशत हिन्दी की किताबें यानी वे ९० प्रतिशत उस ज़बान की किताबें ख़रीदते हैं, जिसे, आपकी राय में, वे समझ नहीं सकते, और जिस ज़बान को वे बोलते और समझते हैं, उस ज़बान की महज़ १० फ़ी सदी किताबें ख़रीदते हैं। ऐसे पागल क्या और कहीं देखने को मिलेंगे! जर्मन जर्मन

और फ्रांसवाले फ्रेंच किताबें ज़्यादा ख़रीदते हैं। लेकिन हमारे सूबे के लोग बोलते हैं उर्दू, मगर पढ़ते हैं हिन्दी-किताबें। इस हिमाक़त की भी कुछ इंतहा है। सचमुच हमारे सूबे के लोग बड़े ख़ब्ती हैं।"

मेरे दोस्त इस बात को सुनकर ख़ामोश हो गये। थोड़ी देर सिर खुजलाते रहे। बाद में मेरे कमरे से चले गये।

[३]

सर तेजबहादुर सप्रू हिन्दुस्तानी एकेडेमी के शुरू से प्रेसिडेंट होते चले आये हैं। आपकी भी राय में इस सूबे की ज़बान उर्दू है। क्या मैं उनसे अदब के साथ पूछने की जुर्रत करूँ कि उनकी हिन्दोस्तानी एकेडमी ने कितनी उर्दू की और कितनी हिन्दी की किताबें बेचीं? मैंने इस सूबे के कई प्रेस-मालिकों से इस मामले में पूछ-ताछ की है, और सबका यही कहना है कि उर्दू-किताबों के मुक़ाबिले में हिन्दी किताबों की माँग कहीं ज़्यादा है। इन बातों से क्या यह ज़ाहिर होता है कि इस सूबे की ज़बान उर्दू है, या यह साबित होता है कि इस सूबे के ज़्यादातर लोग उर्दू समझते हैं; या इससे यह साबित होता है कि बमुक़ाबिले उर्दू के हिन्दी के क़द्रदानों की तादाद बहुत अधिक है। याद रहे कि इस सूबे की मर्दुमशुमारी की जो रिपोर्ट सन् १९११ में प्रकाशित हुई थी, उसमें यह तस्लीम किया गया है कि यहाँ हिन्दी बोलनेवालों की संख्या ९० प्रतिशत से ज़्यादा है, और उर्दू बोलनेवालों की तादाद सिर्फ़ ८ प्रतिशत है। लेकिन इन आँकड़ों से मैं यह नतीजा नहीं निकालता कि इस सूबे में उर्दू का चलन है ही नहीं। मैं इस तरह का एकतरफ़ा फ़ैसला नहीं देना चाहता, और न मेरी यह मंशा है कि ऊपर जो आँकड़े दिये गये हैं, उनसे पाठक यह नतीजा निकालें कि इस सूबे में उर्दू को कोई स्थान न मिलना चाहिए। उर्दू के तरफ़दार हिन्दुओं को मुग़ालते में डालकर उर्दू के नाम पर इस तरह का ग़लत दावा पेश

कर सकते हैं। मैं तो सिर्फ़ यही कहूँगा कि इस सूबे में दो ज़बानें लिखी और बोली जाती हैं। यह दूसरी बात है कि हिन्दी बोलनेवालों की तादाद इस सूबे में कसरत से है, और उर्दू बोलनेवालों की गिनती हिन्दी बोलनेवालों के मुक़ाबिले में बहुत थोड़ी है। लेकिन जब दोनों ज़बानों के बोलनेवाले इस सूबे में मौजूद हैं, तब हमारा यह फ़र्ज़ मज़हबी है कि हम दोनों ही ज़बानों के बोलनेवालों के लिए एक-सी सुविधायें मुहैया करें, और किसी ख़ास ज़बान के बोलनेवालों की तरफ़दारी न करें। इस मामले में सरकार का क्या रवैया होना चाहिए, इसका ज़िक्र मैं आगे करूँगा। यहाँ पर तो मैं सिर्फ़ इतना ही स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि जो लोग इस सूबे की साहित्यिक ज़िन्दगी में हिन्दी को कोई स्थान नहीं देते और न उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, वे ग़लती करते हैं; और ऐसी बात कहते हैं जिसके न सिर है, न पैर, और जिसे ऊपर के आँकड़े आसानी से ग़लत और बेबुनियाद साबित करने के लिए काफ़ी हैं।

अगर हम १८६० से लेकर १९३६ तक की इस सूबे की हालत पर नज़र डालें तो हिन्दी-उर्दू के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में हमारी आँखें और भी ज़्यादा खुल जायँगी। यह याद रहे कि इस सूबे की सरकार जहाँ उर्दू का लाड़-प्यार करती और उसके प्रचार तथा तरक़्क़ी में हर तरह से इमदाद पहुँचाती रही, वहाँ उसने हिन्दी को मिटाने और बरबाद करने में कोई दक़ीक़ा उठा न रक्खा। जिस सूबे के ९० फ़ी सदी आदमी हिन्दी बोलते हों, उस सूबे में हिन्दी का सरकारी दफ़्तरों और अदालतों से बहिष्कार हो, यह अगर बेइसाफ़ी नहीं तो क्या था? हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे मुसलमान भाइयों ने सरकार की इस नीति का ज़ोरों के साथ समर्थन किया। इंसाफ़ को उन्होंने ताक़ पर रख दिया, और तअस्सुब से काम लिया। उन्होंने हिंदी को चन्द फ़सादी हिंदुओं की नौ-ईजाद ज़बान ठहराया। उर्दू को हिन्दू और मुसलमानों की ज़बान मानकर

हिन्दी को हर तरह से दबाने और कुचलने की बराबर कोशिशें कीं। सरकारी और बोर्डों के अमलों ने भी यह चलन अख़्तियार किया। इसका नतीजा वही हुआ, जो होना था। हिन्दी इस सूबे से उठ गई थी। लेकिन किसी सूबे या मुल्क की ज़बान को सरकार के फ़रमानों से ख़त्म करना आज तक मुमकिन नहीं हुआ। इसी तरह हिन्दी को ख़त्म करने की यद्यपि हज़ारहाँ कोशिशें की गईं, लेकिन उसका अंत न हो सका। वह दब भले ही जाय, कुचल उसे कोई भले ही डाले, लेकिन वह इधर दबी, उधर फूट निकली। हर तरह के विरोधों का सामना करते हुए उसने अपनी ज़िन्दगी बचाई, और धीरे-धीरे मज़बूत होती गई। यही वजह है कि जहाँ सन् १८९० में हिन्दी-अख़बारों की सम्मिलित ग्राहक-संख्या सिर्फ़ ८ हज़ार और उर्दू-अख़बारों की १६ हज़ार थी, वहाँ १९३६ में हिन्दी-पत्रों की ग्राहक-संख्या सवा तीन लाख हो गई और उर्दू-अख़बारों की सम्मिलित ग्राहक-संख्या हिन्दी के पत्रों की ग्राहक-संख्या की आधी रह गई। हिन्दी-अख़बारों के पढ़नेवालों की संख्या इन पिछले ४६ सालों में २९ गुना बढ़ी, और उर्दू-अख़बारों के पढ़नेवालों की संख्या महज़ १६ गुना। हिन्दी-किताबें सन् १८९० में ३९ प्रतिशत और उर्दू की ६१ प्रतिशत प्रकाशित हुई थीं, लेकिन सन् १९३६ में हिन्दी-किताबों की संख्या ९० तक बढ़ गई और उर्दू की ६१ फ़ी सदी से घटकर १० फ़ी सदी रह गई। सन् १८९० में चार लड़कों में एक लड़का हिन्दी लेकर वर्नाक्यूलर फ़ाइनल इम्तहान देता था। अब पाँच लड़के अगर हिन्दी लेते हैं, तो सिर्फ़ चार उर्दू। इसके मानी यह हैं कि सरकारी इमदाद होते हुए भी उर्दू हिन्दी के मुक़ाबिले में नहीं ठहर सकी। इसकी वजह साफ़ है। जो इस सूबे के अधिकांश जनता की ज़बान न थी, वह इस सूबे की आम ज़बान कैसे हो सकती थी। अगर दोनों का मुक़ाबिला बराबरी का होता, तो हिन्दी इतने दिनों में और अधिक उन्नति कर गई होती। दूसरी बात जो इन आँकड़ों से ज़ाहिर होती है यह है कि सरकारी फ़रमानों और हुक्मों से किसी मुल्क या सूबे की ज़बान न बदली और

न मिटाई जा सकती है। मुख़ालिफ़त की लाख कोशिशें होने पर भी हिन्दी ज़िन्दा रही, पनपी और बढ़ती-बढ़ती तरक़्क़ी कर गई। इसकी सिर्फ़ एक ही वजह है, और वह यह कि जिस ज़बान को सरकारी इमदाद प्राप्त थी, वही सिर्फ़ इस सूबे की एकमात्र ज़बान न थी।

ऊपर के इन आँकड़ों से एक तीसरी बात भी निकलती है। वह यह कि जो लोग फ़ारसी या अरबी-शब्दों को संस्कृत या संस्कृत से बने हुए शब्दों पर तरजीह देना चाहते हैं, वे इस सूबे की साहित्यिक प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ कोशिशें करते हैं। इससे क्या यह न स्पष्ट है कि जो लोग संस्कृत-शब्दों के बजाय अरबी और फ़ारसी के शब्दों को इस्तेमाल करना चाहते हैं, वे ग़लत रास्ते पर हैं? हिन्दी हिन्दोस्तान की है। न तो वह ईरान की शाखा ज़बान है, और न अरबिस्तान की। इसे अरबी या फ़ारसी की एक शाखा मान लेना या उसे उनकी मजारा भाषा बनाने की कोशिश करना सरासर ग़लती है। और, अगर वे अपनी इस हठधर्मी में अड़े रहेंगे, तो उसका यही नतीजा होगा कि वे ख़ुद अपनी कोशिशों के शिकार बन जायँगे, और तरक़्क़ी करने के बजाय उनका नामोनिशाँ तक मिट जायगा। पहाड़ से हम दरिया को नीचे ला सकते हैं, लेकिन नीचे से पहाड़ के ऊपर दरिया चढ़ाने की कोशिश करना एक हद दरजे की बेवक़ूफ़ी में शामिल है। युक्त-प्रान्त, मैं फिर कहता हूँ, न तो ईरान है, न अरब। इस सूबे की ज़बान को उन देशों की ज़बान के समान बनाना असम्भव है। और यही वजह है कि उर्दू बराबर पछाड़ खाती गई। अगर उर्दू इस सूबे की एकमात्र ज़बान होती, तो सरकारी इमदाद पाने पर वह आज कहीं आगे बढ़ गई होती। न तो हिन्दी-किताबों, न हिन्दी-अख़बारों और न हिन्दी के विद्वानों की तादाद में वह आशातीत वृद्धि हो पाती, जो पिछले ४६ साल में हमें दिखाई देती है। ऊपर जो कुछ हमने संक्षेप में कहा है, उसके सुबूत में हमने इस लेख में ४७ साल के आँकड़े दे चुके हैं। इन आँकड़ों में पिछले ४७ साल में जो हिन्दी-उर्दू के अख़बारों या किताबों के प्रकाशन में वृद्धि हुई है, या

परीक्षार्थियों की तादाद में रद्दोबदल हुआ है. उसका सही नक़्शा पाठकों के सामने आ जायगा।

[४]

अब आइए, हम दूसरे सवाल पर विचार करें। इस रद्दोबदल पर विचार करने से हम किन नतीजों पर पहुँचते हैं? संक्षेप में इस सवाल का जवाब हमें ऊपर मिल चुका है, लेकिन उसे एक बार फिर दोहरा देना अनुचित न होगा। नतीजा यह है कि इस सूबे में एक ज़बान नहीं, बल्कि दो ज़बानें हैं। हमें इससे यहाँ सरोकार नहीं कि किस ज़बान के बोलनेवालों की तादाद इस प्रांत में ज़्यादा है। जो लोग यह कहते हैं कि इस सूबे की ज़बान एक है और उसका नाम उर्दू है, वे ग़लती करते हैं। जो यह कहते हैं कि इस सूबे की ज़बान एक है, और वह हिन्दी है, वे भी ग़लती करते हैं। जो लोग यह कहते हैं कि इस सूबे की ज़बान एक है, और उसका नाम हिन्दुस्तानी है, जो हिन्दी-उर्दू के मेल से बनी है, वे भी ग़लती करते हैं। यह सही है कि इस सूबे में अनेक बोलियाँ हैं, और उन बोलियों के बहुत-से लफ़्ज़ समान हैं, जो सूबे के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक बराबर बोले जाते हैं, और जिनके अर्थ को सूबे के सब आदमी आसानी से समझ लेते हैं। सिर्फ़ इन्हीं बातों से तो यह कहना ग़लत न होगा कि हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी की तह में ये बुनियादी शब्द मौजूद हैं। इस अर्थ में और केवल इसी अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि इस सूबे की ज़बान एक है, लेकिन बुनियादी शब्दों की तादाद थोड़ी है। उनके द्वारा हम अपनी रोज़मर्रा की थोड़ी-सी ज़रूरतें रफ़ा कर सकते हैं। लेकिन इन घरेलू ज़रूरतों के अलावा जैसे ही हम किसी मसले पर लिखना या बोलना चाहते हैं, तो हम मजबूर हो जाते हैं कि दूसरी ज़बान के उन शब्दों को लें, जो हमारे विचारों को प्रकट करने के लिए मौज़ूं हों। अरबी और फ़ारसी-लफ़्ज़ों को अपनाने की वजह है, जिसकी प्रेरणा से हम संस्कृत-शब्दों को लेकर अपनी भाषा में उन्हें चला रहे हैं। संस्कृत, अरबी और

फ़ारसी के अलावा भी अँगरेज़ी या योरप की दूसरी ज़बानों के भी बहुत-से शब्द हमने अपना लिये हैं। रेलवे-स्टेशन, रेडियो, टेलीग्राम, केबुल, केबुलग्राम, नाज़िरिज़्म, कम्यूनिज़्म, पॉलसी आदि शब्द इस बात के प्रमाण हैं। दूसरी ज़बान के शब्दों को लेना कोई शरम की बात नहीं। संसार की सभी ज़िन्दा ज़बानें ऐसा करती आई हैं, कर रही हैं, और करती रहेंगी। तात्पर्य यह कि जहाँ हमारी बोलियों के तमाम शब्द हम सबकी विरासतें हैं, वहाँ उन्हीं के सहारे – सिर्फ़ उन्हीं के सहारे—राजनीतिक, धार्मिक और पारिभाषिक विषयों पर अपने विचारों को व्यक्त करना हमारे लिए असभव है। दूसरी ज़बानों से हमें इसके लिए शब्द लेने पड़ेंगे, हम शब्द लेते हैं, और शब्द लेते रहेंगे, और यही कारण है कि हमारे सूबे में दोनों ज़बानें आजकल रायज हो गई हैं। उर्दू-ज़बान में जहाँ संस्कृत-शब्दों की सख्या एक लुग़त के मुताबक़ महज़ ५०० है, वहाँ ५४,००० शब्दों में १४ हज़ार के क़रीब शब्द अरबी और फ़ारसी-भाषा से आये हैं। हिन्दी-शब्द-सागर कोश में ९४,००० शब्द मिलते हैं, उसमें भी ७ या ८ सैकड़ा के लगभग अरबी या फ़ारसी के शब्द मिलेंगे। संस्कृत-शब्दों की काफ़ी तादाद है। हिन्दीवालों ने संस्कृत-शब्दों को अपना लिया है और उनका प्रयोग हिन्दी-व्याकरण के अनुसार करते हैं। उर्दूवाले ऐसा नहीं करते। इन्होंने बहुत-से शब्द न सिर्फ़ अरबी और फ़ारसी ज़बान से लिये हैं, बल्कि उन ज़बान के व्याकरणों का भी अनुसरण करते हैं।

इस सूबे की ज़बान के मसले पर बहस करते हुए हमें यह न भूलना चाहिए कि इस सूबे की ज़बान वही है जिसमें तुलसीदास ने अपनी रामायण लिखी या सूरदास ने सूरसागर रचा। तुलसीदास ने अपनी रामायण में लगभग ५,००० शब्दो का प्रयोग किया है। इन ५,००० शब्दों में अरबी और फ़ारसी-शब्दों की तादाद बहुत थोड़ी है। उतनी ही थोड़ी, जितनी थोड़ी दाल में हींग होती है। हींग को

दाल का और दाल को हींग का पद देना वैसे ही अनुचित और हानिकारक होगा, जैसे इस सूबे की ज़बान में अरबी और फ़ारसी लफ़्ज़ों की या उन ज़बान के क़ायदों की भरमार करना ग़लत होगा। तुलसीदास की रामायण को इस सूबे के अमीर, ग़रीब, नागरिक और देहाती आसानी से समझ लेते हैं। ग़ालिब को समझने के लिए विद्वानों की शरण लेनी पड़ती है, ग़ालिब चन्द पढ़े-लिखे लोगों के शायर हैं। तुलसीदास राह चलते हुए बटोहियों के साथी हैं। आम पाठकों के लिए तुलसीदास ने लिखा। ग़ालिब, मीर, अकबर और चकबस्त चन्द तहज़ीबयाफ़्ता मौलवियों के मनोरंजन की सामग्री जुटाने में समर्थ हुए। आम आदमियों से उनका कोई सरोकार नहीं, आम आदमियों की ज़िंदगी पर उनका कोई असर नहीं। तुलसीदास तो हमारी रग-रग में पैवस्त हो गये हैं। उनके शब्द और उनके वाक्य हमारे मानसिक जगत् के चलन सिक्के हैं। लिहाज़ा जो इस सूबे के साहित्य-निर्माताओं में अपना नाम लिखाने की तमन्ना रखते हैं, उन्हें यह याद रखना चाहिए कि वे तुलसीदास को आदर्श बनायें तभी उनका साहित्यिक काम स्थायी होगा।

[५]

तीसरा प्रश्न यह है कि उर्दू और हिन्दी-भाषा में क्या भेद हैं, और उन भेदों को मिटाने के क्या मार्ग हैं? हिन्दी-उर्दू-भाषायें दो तरह की भाषायें हैं। उर्दूवालों को विदेशी शब्द देशी शब्दों के मुक़ाबिले बहुत पसन्द आये, और उन्होंने उन्हें अपना लिया। इनको देशी लफ़्ज़ों के मुक़ाबिले में वे रायज करना चाहते हैं। हिन्दीवाले परदेशी शब्दों के मुक़ाबिले में देशी शब्दों को स्थान देते हैं। स्वदेशी शब्दों में संस्कृत-शब्द भी शामिल हैं। शामिल इसलिए कहता हूँ क्योंकि संस्कृत हिन्दुस्तान की प्रान्तिक भाषाओं की जननी है। संस्कृत और प्राकृत से हमारी ज़बान पैदा हुई है। इसलिए जमुना न लिखकर यदि हम यमुना लिखें, तो कोई बड़ा अनर्थ न होगा। नेह की जगह अगर स्नेह कहें तो कोई

ज़्यादती नहीं, लेकिन हमारे लिए यह साधारण तौर से अस्वाभाविक होगा। यदि हम स्नेह को तो ठुकरा दें, और नेह को भी भूल जायँ, और इनकी जगह इश्क़ का इस्तेमाल करें। ऐसा करना साहित्यिक अनर्थ में शामिल है। हाँ, ऐतिहासिक कारणों से बहुत-से परदेशी लफ़्ज़ हमारी ज़बान में आ गये हैं। उनको हमने अपना लिया है। वे शब्द पहले परदेशी भले ही रहे हों। अब तो व परदेशी नहीं रह गये; अब वे शरीर में हड्डी और ख़ून के समान हमारे हो गये हैं। उनके साथ हमारा इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है कि हम यह भूल-सा गये थे कि वे हमारे नहीं हैं। शायद हमें यह याद भी न आता, यदि हमारे उर्दूदाँ दोस्त इस बात को मौक़े-बे-मौक़े दोहराया न करते कि वे अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ हैं।

दूसरा भेद यह है कि हिन्दीवाले व्याकरण के उन्हीं नियमों का पालन करते हैं, जो भारतीय आर्य ज़बानों के नियम हैं। उर्दूवालों ने सामी—अनार्य—ज़बानों के व्याकरणों के बहुत-से मुहाविरों को अपनाया है। उर्दू भारत की एक भाषा है। उसके शब्द और व्याकरण-सम्बन्धी नियम, अन्य भारत की प्रान्तिक भाषाओं के समान भारतीय आर्य-भाषाओं के शब्द और नियम होने चाहिए। किन्तु उर्दू-दाँ उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द ठूँसते और उन भाषाओं के नियमों से अपने को पाबन्द समझते हैं। उदाहरण के लिए वकील या हाकिम शब्दों को ले लीजिए। हिन्दी-व्याकरण के अनुसार बहुवचन में इनका रूप होगा वकीलों या हाकिमों। लेकिन उर्दूवाले वकीलों या हाकिमों न कहकर वकला या हुक्काम कहते हैं। मौलवी का बहुवचन मौलवियों नहीं, मौलवियान है। इसी तरह अमीर का बहुवचन अमीरों नहीं, उमरा है। तालिबइल्म का रूप बहुवचन में बदलकर तुलबा हो जायगा, और जमात का जमातों न कहकर जमइयत हो जायगा। जहाँ हम चमन का गुल कहेंगे, वहाँ उर्दूवाले, सामी ज़बानों के मुहाविरे के मुताबिक़, उसे गुले-चमन कहेंगे। अमन-चैन न कहकर वह अम्न-ओ-आमान को

ज़्यादा पसन्द करेंगे। ग़रज़न्दे-बितानिआ उसके कानों को कहीं ज़्यादा सुहाता है। मख़बूतुलहवास इस मज़े के मरी। की ज़बान पर हमें राज़मरो मिलेगा। 'उल' का अर्थ सम्बन्ध सूचक है, लेकिन 'का' के इस्तेमाल से उन्हें नफ़रत है। जहाँ 'उल' से काम चलेगा, वहाँ 'का' को वे घुसने भी न देंगे। वकील से हमें नफ़रत नहीं, काग़ ठीक है, लेकिन वकला और काग़ज़ात क्यों? अर्ज़ी तो हम सब कहते हैं, लेकिन आरायज़ हम क्यों कहें? सम्बन्ध को तो हम भूल जायँ और मुतअल्लक़ से नेह जोड़ें। तजवीज़ कहना मुनासिब नहीं, क्योंकि शाइस्ता लोग तजावीज़ कहा करते हैं। ये सब अनुचित प्रयोग हैं। उर्दू हिन्दी की है। उसे ईरानी या अरबी का रूप देना भूल है। जो हिन्द की ज़बान लिखना या बोलना चाहते हैं उन्हें तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे अपनी ज़बान में लिखने या बोलने के समय अपनी ज़बान के क़ानूनों को याद रक्खें। परदेशी ज़बान के क़ानूनों की पाबन्दी करने की कोई ज़रूरत नहीं।

इसी तरह उर्दूवाले क्रिया के इस्तेमाल में भी ज़्यादती करते हैं। हिन्दी और इस मुल्क की दूसरी भारतीय आर्य-भाषाओं में क्रिया वाक्य के अन्त में आती है। उर्दूवाले सामी ज़बानों की नक़ल करते हुए क्रिया को वाक्य के आदि या बीच में इस्तेमाल करते हैं। वे कहेंगे—"शुक्र है उस ख़ुदा को"। उन्हें 'ख़ुदा का शुक्र है" कहना ठीक नहीं जँचता। ऐसी अनेक मिसालें दी जा सकती हैं। हो सकता है कि जैसा हम कहते हैं वैसा करने से हमारी ज़बान एक आलमाना ज़बान न रह। लेकिन ज़बान तो ऐसी होनी चाहिए जिसे मामूली आदमी भी समझ सके। अरबी या ईरानियों की नक़ल करना जातीय पतन और मानसिक कंगाली की डुग्गी पीटना है। उर्दू को विदेशी ढाँचे में ढाल कर उसे स्वदेशी ज़बान क़रार देना या मनवाना साम्प्रदायिक दुराग्रहमात्र है।

[६]

हमने जो कुछ ऊपर कहा है, उससे हिन्दी-उर्दू के मामले में मेरा

जो दृष्टिकोण है, वह स्पष्ट हो जाता है। हिन्दी-उर्दू में अरबी या फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं, उनके निकालने का मैं हामी नहीं। लेकिन हिन्दी-उर्दू के भेद को मिटाने या उसे कम-से-कम करने के लिए मेरी यह क़तई राय है कि हम परदेशी लफ़्ज़ों को ऐसे साँचे में ढालें, जिससे उनका परदेशी-पन दूर हो जाय। इसलिए यह ज़रूरी है कि उनका हम प्रयोग उन नियमों के अनुसार करें, जिनका हमारे देश में चलन है। विदेशी भाषा के शब्दों को लेना एक बात है; विदेशी भाषा के नियमों को भी अपनाना एकदम दूसरी मनोवृत्ति का सूचक है। इस मनोवृत्ति की जितनी भी निन्दा की जाय, थोड़ी है। मेरी राय में संस्कृत-शब्दों के ख़िलाफ़ जो जहाद इस वक्त उर्दू-अख़बार और उर्दू के हिमायती उठा रहे हैं, वह ग़लत है। हमारे सामने यह सवाल नहीं है कि फ़ारसी या अरबी के रायज शब्द हमारी भाषा में से निकाल दिये जायँ, और न यही सवाल है कि संस्कृत के जो प्रचलित शब्द हमारी भाषा में शामिल हैं, उन्हें हम निकाल बाहर करें। दोनों ही तरह के शब्द हमारी अदबी ज़िंदगी या साहित्यिक जीवन के अटूट अंग हैं। लेकिन इसके साथ ही मेरी यह भी राय है कि हिन्दी के लिए जिन नये शब्दों के बनाने की ज़रूरत पड़े, वे ज़्यादातर प्राकृत और संस्कृत से बनाये जायँ, क्योंकि हिन्दुस्तान की किसी भी प्रांतिक भाषा-विशेष में संस्कृत के साथ ऐसा सम्बन्ध है, जो उस वक्त तक ख़त्म नहीं हो सकता, जब तक वह भाषा इस मुल्क की भाषा रहेगी। इसी मत के समर्थन में बहुत-से मुसलमान आलिमों ने ख़ुद भी बड़े ज़ोरदार शब्दों में लिखा है।

उर्दू में अरबी और फ़ारसी बहरों की चलन है। छंद-संबंधी नियमों को उर्दूवालों ने अरबी और फ़ारसी के साहित्य से ग्रहण किया है। उन नियमों के आधार पर हमारे बड़े-बड़े शायरों ने कमाल की शायरी की है। हमें उन तर्ज़ों को अपनाना चाहिए, उसी तरह जिस तरह हम इस मुल्क के छन्द-सम्बन्धी नियमों को अपनाते हैं। अगर हम

योरपीय सानेट के वज़न पर कविता हिन्दी या उर्दू में लिखने की कोशिश करते हैं, या विदेशी छंदःशास्त्र के दूसरे नियमों के अनुसार कविता करने की कोशिश करते हैं, तो कोई वजह नहीं कि उर्दू बहरों को हम परदेशी बहर क़रार दें, और उन्हें क्यों न अपने साहित्य का अङ्ग बना लें। शब्दों और व्याकरण-सम्बन्धी नियमों के विषय में इस तरह का समझौता होना असम्भव है क्योंकि सामी ज़बानों के जो नियम हैं, वे इंडो-आर्यन ज़बान के नियम नहीं हो सकते। हमें बहुवचन, विशेषण और क्रिया, आदि के प्रयोग ही में अपने नियमों का पालन करना चाहिए। अगर हम हठधर्मी और तास्सुब को छोड़कर काम करें, तो कोई वजह नहीं कि हिन्दी-उर्दू में जो कशमकश इस समय नज़र आ रही है, वह चन्द दिनों में क्यों न कम हो जाय। इंशा की "रानी केतकी की कहानी" में हिन्दुस्तानी शब्द ही आपको मिलेंगे, लेकिन उसके काव्यों का साँचा सामी भारतीय आर्य नहीं, इसी लिए हिन्दुस्तानी की एक किताब होते हुए हिन्दी के मेरे लेखकों ने उसे उर्दू की एक साधारण पोथी माना है। हमें दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इंशा ने जिस ग़लत रास्ते को अपनाया, उसी को उनके पीछे के लेखकों ने और चौड़ा करने में कोई कोर-कसर उठा न रक्खी। लफ़्ज़ों के भेद ने हिन्दी-उर्दू के मामले में उतना ज़्यादा भेद नहीं डाला, जितना अन्तर पैदा हो गया दोनों ज़बानों की बनावट के उसूलों में भेद के कारण।

ऊपर की बहस दो बातों की तरफ़ पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करती है। हिन्दी-उर्दू में एक तो झगड़ा इस बात का है कि अरबी या फ़ारसी के लफ़्ज़ कसरत के साथ प्रयुक्त किये जायँ, या संस्कृत के तत्सम या तद्भव शब्द। किसी हिन्दीवाले ने अरबी और फ़ारसी के रायज शब्दों के निकालने की माँग नहीं पेश की। अगर कोई इस तरह की माँग पेश करे, तो उसका ऐसा करना मेरी राय में नामुनासिब होगा। उर्दूवाले अगर चाहते हैं कि उनकी ज़बान का इस सूबे

में प्रचार हो और ज़्यादातर लोग उर्दू की किताबें ख़रीदें और पढ़े, तो उनके लिए यह ग़ौर करने की बात है कि क्या विदेशी शब्दों के स्थानों में ज़्यादातर संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का इस्तेमाल करना मुनासिब होगा? अगर अपनी इस ग़लती को वे न मानेंगे, और परदेशी लफ़्ज़ों के सामने वे अपने लफ़्ज़ों का अनादर करते रहेंगे, तो इससे उन्हीं को नुक़सान पहुँचेगा। हमें दुःख होगा, अगर तरक़्क़ी में उर्दू की इस ज़िद की वजह से नुक़सान पहुँचा या बाधा पड़ी। लेकिन इसका फ़ैसला हम उर्दू के हामियों ही पर छोड़ते हैं। जिन शब्दों को वे आज संस्कृत के कहकर—मुश्किल और ग़ैरमानूस लफ़्ज़ क़रार देकर—शोरग़ुल मचाते और चाहते हैं कि उनका इस्तेमाल एकदम बन्द हो जाय, उन शब्दों की बाबत उन्हें यह सोचना चाहिए कि हिन्दीवाले इन्हीं "कठिन" शब्दों की बदौलत अपनी किताबों को हज़ारों की तादाद में बेच लेते हैं। हिन्दी-नवीस आज आज़ादी के साथ इन कठिन शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, लेकिन हिन्दी-अख़बारों या किताबों के पढ़नेवाले इन्हें न ग़ैरमानूस समझते और न उनकी वजह से ऐसे अख़बारों या किताबों के ख़रीदने से रुकते हैं। उर्दूवालों ने अपनी संकीर्णता के कारण उर्दू की स्वाभाविक उन्नति को मार दिया। उसका जो नैसर्गिक विकास था, वह इनकी साहित्यिक संकीर्णता और अदूरदर्शिता के कारण संकुचित हो गया। उसके फैलाव का दायरा इन नादान दोस्तों की नादानी की वजह से, इतना महदूद हो गया कि उसे हिलने-डुलने की भी जगह नहीं रह गई। तंग चारजामे में कसकर उन्होंने उसे अपंग और अपाहिज बना दिया। अगर हिन्दुस्तान की दूसरी प्रांतिक भाषाओं के मुक़ाबिले में उन्हें अपनी ज़बान को बराबरी का दर्जा दिलाना मंज़ूर है, तो उन्हें संजीदगी से अपनी इस मौजूदा नीति पर ग़ौर करना चाहिए। उर्दू पिछड़ी—अरबी और फ़ारसी शब्दों पर ज़रूरत से ज़्यादा ज़ोर देने की वजह से; हिन्दी बढ़ी—इस पाबन्दी से छुटकारा पाने की वजह से। हमें अरबी और फ़ारसी लफ़्ज़ों से कोई

विद्वेष नहीं, लेकिन सच तो यह है कि उर्दू तभी ज़िन्दा रह सकती है, पनप सकती है, बढ़ सकती है, और तरक़्क़ी कर सकती है, जब वह अपने को इस मुल्क की ज़बान बनाकर लोगों के सामने आयेगी। जब तक वह अपने को सामी ज़बानों की असली बेटी समझेगी और संस्कृत के साथ सौतेलेपन का बर्ताव करने पर ऊतारू रहेगी, तब तक उसके लिए न तो इस मुल्क में भविष्य है, और न वह दूसरी प्रान्तीय ज़बानों के मुक़ाबिले में ज़्यादा दिन तक ठहर सकती है। जिस घड़ी सरकारी इम्दाद, जो उसे इस समय मिल रही है, हट जायगी, उसी वक्त उसका ख़ात्मा हो जायगा। हिन्दी अगर बढ़ी, तो इसलिए नहीं कि सरकार ने उसकी हिमायत की। उर्दू अगर घटी, तो इसलिए नहीं कि जो सरकारी इम्दाद उसे पहले मिलती थी, उसका मिलना बन्द हो गया। सन् १९३६ तक तो काग्रस-गवर्नमेंट ७ या ८ सूबों में राज्य नहीं करती थी। तब तो नवाब सर मुहम्मद यूसूफ़ का इस सूबे में राज्य था। इन्हीं के भाई-बन्धु दूसरे सूबों में भी हुकूमत करते थे, फिर क्या वजह है कि इस सबके होते हुए भी हिन्दी पिछले ४७ साल में तो इतनी आगे बढ़ गई और उर्दू सरकारी इम्दाद के पाते हुए भी इतनी पिछड़ गई? वजह सिर्फ़ यह है कि उर्दू-परस्तों ने उर्दू को इस मुल्क की ज़बान न मानकर अरबी और फ़ारसी के मेल-जोल से एक नई भाषा ईजाद करने की कोशिश की। उनकी यह कोशिश ग़लत थी, और ग़लत साबित भी हुई।

[७]

ऊपर जो कहा गया है, उसी से चौथे प्रश्न का जवाब पाठकों को मिल जायगा। चौथा प्रश्न था कि नये शब्द कहाँ से लिये जायँ—अरबी, फ़ारसी या संस्कृत से? इस समय मुल्कों की सीमायें मिट-सी गई हैं। ऐसा मालूम होता है कि संसार थोड़े ही दिनों में हमारा पड़ोसी बन जायगा। चारों ओर से इस समय हिन्दुस्तान पर नये नये विचारों का प्रचण्ड धावा हो रहा है। नई धारणायें, नये सम्बन्धों और नये अनु-

भावों को व्यक्त करने के लिए हमारे लिए यह ज़रूरी हो गया है कि हम उनके लिए या तो योरप की ज़बान के शब्दों को अपनावें या अपने यहाँ के मौजूदा शब्दों से इन नये ख़्यालात को प्रकट करने के लिए नये शब्द गढ़ें। शब्द गढ़ने के लिए अगर हमें अरबी और फ़ारसी की शरण लेना मंज़ूर है, तो कोई वजह नहीं कि अरबी और फ़ारसी के बजाय हम योरपीय ज़बान के लफ़्ज़ों को क्यों न ले लें; क्योंकि दोनों ही तरह के शब्द हमारे लिए एक-से परदेशी हैं। ऐसी पुकार होते हुए कोई वजह नहीं मालूम होती कि हम क्यों संस्कृत-शब्दों को छोड़कर अरबी और फ़ारसी से नये शब्द गढ़ें। बंगाली, आसामी, उड़िया, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू और राजस्थानी में समान पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हो रहे हैं। अगर हम तंग-ख़्याली छोड़कर तास्सुब से काम लें तो संस्कृत शब्दों से बने हैं। न लें, तो कोई वजह नहीं मालूम होती कि उर्दू के बजाय हम योरपीय लफ़्ज़ों को क्यों न ले लें। दोनों ही तरह के शब्द एक-से परदेशी हैं। कोई वजह नहीं मालूम होती कि हम क्यों संस्कृत-शब्दों को अरबी और फ़ारसी से गढ़ें। पारिभाषिक शब्दों की संख्या बहुत है, जिनके लिए हमें नये शब्द न गढ़ने पड़ेंगे और जिनके लिए हमारी ज़बान में आसानी से शब्द मिल सकते हैं। यह काम आज भी उसी तरह से हो रहा है। बङ्गाली, आसामी, उड़िया, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू और राजस्थानी में एक-से पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग हो रहे हैं। अगर हम तंगख़्याली छोड़कर तास्सुब से काम न लें, तो कोई वजह नहीं मालूम होती कि उर्दू भी हिन्दुस्तान की अन्य प्रांतिक भाषाओं की तरह उसके पारिभाषिक शब्दों को क्यों न सीखें। लेकिन अगर हमारे उर्दूपरस्त दोस्त उन पारिभाषिक शब्दों को नहीं अपनाना चाहते, जिन्हें हिन्दुस्तान की दूसरी प्रांतिक ज़बानें अपनाती हैं, या अपना लिया है, तो उन्हें आज़ादी है। अगर वे इस्तलाहात के लफ़्ज़ों को अरबी या फ़ारसी से लेंगे, तो उन्हें इस ख़तरे का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए कि उनकी ज़बान इस मुल्क

की ज़बान न रह सकेगी। दूरंदेशी का तक़ाज़ा है कि वे इस मामले में हठधर्मी न करें। मुझे अगर नये लफ़्ज़ बनाने में हिन्दुस्तान में रायज ज़बानों से इम्दाद नहीं मिलेगी, तो मैं निस्सकोच अरबी और फ़ारसी के शब्दों को अपना लूँगा। लेकिन जब तक मुझे हिन्दुस्तान ही में नये लफ़्ज़ मिल सकते हैं, तब तक मेरे लिए यह नामुनासिब होगा कि हिन्दी को छोड़कर बाहरी लफ़्ज़ अमल में लाऊँ। लेकिन यह तो अपनी-अपनी नीति और सहूलियत पर निर्भर है कि कौन किस ज़बान के लफ़्ज़ों को ज़्यादा पसन्द करता है। हमें उनसे कोई शिकायत नहीं, जिन्हें उर्दू पसन्द है। लेकिन अगर हम अपनी बोली से प्रीति करना चाहते हैं, तो उन्हें हमसे झगड़ने की ज़रूरत नहीं। उन्हें भी आज़ादी होनी चाहिए, और हमें भी। फ़ैसला जनता के हाथों में है। रस्म और रिवाज आगे चलकर इस बात को तय कर देगी कि कौन शब्द चालू रहेगा और किसका अन्त हो जायगा।

[८]

पाँचवें सवाल का जवाब मैं चन्द शब्दों में दे देना चाहता हूँ। मेरी राय में इस सूबे की गवर्नमेंट को साफ़ लफ़्ज़ों में यह एलान देना चाहिए कि दोनों लिपियाँ सूबे की सरकारी लिपियाँ हैं। हम उर्दू को सरकारी दफ़्तरों से निकालने के पक्षपाती नहीं। हम पक्षपाती हो भी कैसे सकते हैं, जब हमने खुले दिल से यह स्वीकार कर लिया है कि इस सूबे में दो ज़बानें हैं। सरकार को यह भी मान लेना चाहिए कि जैसे दोनों लिपियाँ इस सूबे की सरकारी लिपियाँ हैं, उसी तरह दोनों ज़बानें भी सरकारी ज़बानें हैं, और सरकारी मुलाज़िमों को पूर्ण आज़ादी है कि वह जिस ज़बान में चाहें, काम कर सकते हैं। दोनों को एकसाँ रुतबा मिलना चाहिए। किसी को नीचा दिखाना सरकार के लिए मुनासिब नहीं। किसी के साथ पक्षपात करना भी बेजा है। लेकिन जनता को भी पूरी आज़ादी होनी चाहिए कि वह जिस ज़बान और लिपि में चाहे, उसमें सरकार के पास अर्ज़ियाँ दे सके, या चिट्ठी-पत्री भेज

सके। मद्रास में ४ ज़बानें और ४ लिपियाँ सरकारी ज़बानें और लिपियाँ हैं। बम्बई-प्रान्त में ३ ज़बानें और ३ लिपियाँ सरकारी लिपियाँ और ज़बानें हैं। साउथ आफ्रिका में ये सरकारी मानी जाती हैं। जब और जगहों में कई भाषायें और लिपियाँ चलती हैं, तो कोई वजह नहीं मालूम होती कि युक्तप्रान्त में दो ज़बानें और दो लिपियाँ जो निश्चित हैं, क्यों न सरकारी ज़बानें और लिपियाँ मानी जायँ? अगर गवर्नमेंट इस तरह का एलान कर दे, तो हिन्दी-उर्दू का जो झगड़ा इस वक्त चल रहा है, वह आप-से-आप ख़त्म हो जायगा। हमारे मुसलमान दोस्तों के दिल में यह चोर है कि हिन्दू उर्दू को इस सूबे के सरकारी दफ़्तरों और अदालतों से निकालने की कोशिश में लगे हैं। अगर उन्हें इस बात का इतमीनान हो जाय कि उर्दू के मौजूदा हक़ूक़ क़ायम रहेंगे, तो उन्हें इस बात से कोई एतराज़ नहीं है कि अगर हिन्दी को भी वही सहूलियत दे दी जाय, जो इस वक्त इस सूबे में उर्दू को हासिल है। इस तरह से हिन्दू-मुसलमान, दोनों का समझौता आसानी से हो सकता है। मैंने जो कुछ ऊपर लिखा है, वह तो व्यापक सिद्धान्तों को निर्दिष्ट करता है। इन सिद्धान्तों को असली जामा पहनाने के लिए सरकार को एक कमेटी मुक़र्रर करना चाहिए। वह कमेटी गवर्नमेंट से सिफ़ारिश करेगी कि किस तरह से ऊपर कहे गये उसूलों को हम अमल में ला सकते हैं। यह सही है कि इसकी वजह से सरकारी दफ़्तरों का ख़र्च बढ़ेगा, लेकिन जनता की सहूलियत को मद्देनज़र रखने में अगर सरकारी ख़र्च बढ़े, तो एतराज़ की बात नहीं। लेजिस्लेटिव असेम्बलियों और कौंसिलों की कार्यवाही जो हिन्दुस्तानी में होती है, वह हिन्दी-उर्दू दोनों में छापी जाती है। इस वजह से छपाई का ख़र्च बढ़ तो गया, लेकिन जनता की सहूलियत के लिहाज़ से ऐसा करना मुनासिब समझा गया और इसका नतीजा यह हुआ कि हिन्दू-मुसलमानों को कोई शिकायत बाक़ी नहीं रही। अगर ऐसा न किया जाता, तो दोनों की शिकायतें बनी रहतीं। रसीदें उर्दू में शाया हैं, तो कोई वजह नहीं कि वे हिन्दी

में क्यों न प्रकाशित की जायँ। सम्मन दोनों लिपियों और दोनों भाषाओं में लिखे जाने चाहिए। नहरों की आबपाशी की रसीदें कोई वजह नहीं कि एक लिपि ही में क्यों दी जायँ। और इसकी कोई माक़ूल वजह नहीं मालूम होती है कि पुलिस की जो रिपोर्टें लिखी जाती हैं, वे सब उर्दू ही में लिखी जायँ। अगर उसूल मान लिया जाय, तो इकसाँ उसूल अमल में लाना कोई दिक़्क़त-तलब बात न होगी।

अब सातवाँ सवाल सिर्फ़ बाक़ी बचता है, तालीम किस लिपि और किस ज़बान में बच्चों को दी जाय। आज-कल कुछ दोस्त इस बात पर ज़ोर दे रहे हैं कि १० वाँ दर्जा तक हिन्दी-उर्दू में पढ़ाई अनिवार्य कर दी जाय। सन् १९२८ में मैंने यही बात बोर्ड आफ़ वर्नाक्यूलर-फ़ाइनल के जलसे में उठाई थी। और, मेरा प्रस्ताव भी बहुमत से मंज़ूर हो गया था। लेकिन उस वक्त की गवर्नमेंट ने उसे मंज़ूर नहीं किया। मैं यह मानता हूँ कि इस प्रस्ताव के समर्थन में जो दलीलें दी जाती हैं, लेकिन जितना ही मैंने इस मसले पर ग़ौर किया है, उतना ही ज़्यादा एतराज़ात मेरे सामने आये हैं। और बातें जाने दीजिए, सबसे बड़ा एतराज़ यह है कि लड़कों की तालीम ज़्यादातर शाब्दिक है। उसे कार्य-शील बनाने की सिफ़ारिश कौंसिल ने की है। देहाती बच्चों का पढ़ने के लिए यों ही वक्त नहीं अगर वे एक लिपि, एक ज़बान ही सीख लें तो बहुत बड़ी बात है। दो लिपियों और दो ज़बानों का सीखना उनके लिए मुनासिब न होगा। पहले तो पढ़ने और सीखने का उनके पास वक्त नहीं। इतना ही नहीं, दो लिपियों और दो ज़बानों के सीखने पर उनके मस्तिष्क पर ज़रूरत से ज़्यादा बोझा पड़ेगा। अगर सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में दो ज़बानें हो जाती हैं, तो कोई वजह नहीं कि हमारे सूबे के ग़रीब बच्चों को यह ज़हमत उठानी पड़े। अपने काम के लिए वे दो लिपियों और ज़बानों में जिसको वे जानते हों, उसे इस्तेमाल कर सकते हैं। कहा यह जाता है कि जब तक दोनों लिपियों और ज़बानों में स्कूलों में इन्तज़ाम न हो

जायगा, तब तक हिन्दू-मुसलमानों का मेल नहीं हो सकता। ज़बान और लिपि की मोटी दीवार दोनों के बीच में खड़ी होकर भेद-भाव बढ़ा देगी। अगर हमारे सूबे के सब बच्चे हिन्दी-उर्दू दोनों पढ़ लें, अर्थात् हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के विचारों से वाक़िफ़ हो जायँ, तो सब तालिब-इल्मों के ऊपर दोनों बान का असर एकसाँ हो और इस वजह से एकता का भाव बढ़ेगा। लेकिन मैं पूछता हूँ कि क्या कोई और आसान तरीक़ा हम नहीं निकाल सकते। हिन्दी के अख़बारों ने इस काम को बहुत ख़ूबी के साथ किया है। हिन्दी की बहुत-सी पत्र पत्रिकायें अपने हर एक अंक में बड़े बड़े शायरों की नज़्में और उनके शब्दों को ज्यों-का-त्यों उद्धृत करती हैं. और उनकी शायरियों में जो अरबी और फ़ारसी के कठिन शब्द आते हैं, उनके पर्यायवाची शब्दों को फुटनोट में दे देती हैं। अकबर, ज़ौक, मीर, चकबस्त और ग़ालिब के दीवानों की हिन्दी-अक्षरों में कई प्रतियाँ निकल चुकी हैं। हज़ारों की तादाद में इन किताबों की बिक्री भी हुई है। कविता-कौमुदी आदि की तरह उर्दू शायरों की नज़्मों के बड़े सुन्दर संग्रह निकल चुके हैं। इन किताबों की बदौलत उर्दू शायरों के ख़यालात का बड़ी आसानी से प्रचार हुआ है, और हो रहा है। मैंने ख़ुद जब भारत का संपादक था, तब अपने उर्दू जाननेवाले दोस्तों के ऐसे लेख छापे, जो विशुद्ध उर्दू-ज़बान में लिखे गये थे। मैंने केवल लिपि बदल कर उन्हें ज्यों का-त्यों प्रकाशित किया। क्योंकि मेरी यह नीति थी कि भारत के पाठक दोनों ही ज़बान से वाक़िफ़ हो जायँ। क्या उर्दू अख़बार-नवीसों ने हिन्दी-शायरों या लेखकों के नज़्मों या लेखों को इसी तरह से अपने अख़बारों में शाया करने की नीयत फ़रमाई है? तास्सुब उनमें है या हममें? हम एक ज़बान बनाने की सच्ची कोशिश में लगे हुए हैं या वे? दो लिपियाँ जानने की ज़रूरत नहीं, ज़रूरत है तंगदिली को छोड़ने की, तास्सुब से मुँह मोड़ने की और ज़रूरत है इस बात को दिल खोलकर तस्लीम करने की कि इस सूबे में आज दिन दो मुख़्तलिफ़ ज़बानें हैं। इस बात को

भी हमें तस्लीम करना पड़ेगा कि इस सूबे में एक ज़बान के बोलनेवालों की तादाद आज दिन भी ज़्यादा है। और इस ज़बान के पढ़नेवालों की तादाद जहाँ पहले बहुत थोड़ी थी, वहाँ अब दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है। ऐसी हालत में सब बच्चों को दोनों ज़बानें और दोनों लिपियाँ अलग-अलग सिखाने के लिए मजबूर करना ग़ैर-मुनासिब सिद्ध होगा। हाँ, सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में जो मुलाज़िम रक्खे जायँ, उनके लिए दोनों ज़बानों और दोनों लिपियों का जानना निहायत ज़रूरी है। इस तरह का सरकारी हुक्म बरसों पहले निकल चुका है। लेकिन अभी तक उस पर अमल नहीं किया गया। आज तक किसी उर्दू-परस्त ने इस बात की शिकायत भी नहीं की। तो जहाँ मैं इस बात का हामी हूँ कि सरकारी दफ़्तरों और अदालतों तथा बोर्डों के दफ़्तरों के मुलाज़िमों के लिए दोनों लिपियों और दोनों ज़बानों का जानना लाज़िमी क़रार दिया जाय, वहाँ मैं दोनों ज़बानों और लिपियों को लाज़िमी बनाने का विरोधी हूँ। अपनी ख़ुशी से जो बच्चा चाहे, दोनों लिपियाँ सीखे या दोनों ज़बानें पढ़े, और ऐसा करने के लिए उसको हर तरह की सहूलियत पहुँचाना हमारा फ़र्ज़ होना चाहिए। लेकिन दोनों लिपियाँ सीखने के लिए किसी को हमें जबरन मजबूर नहीं करना चाहिए। मुल्क की बदक़िस्मती से, हमारे बच्चों के लिए सूबे की ज़बान के अलावा, अँगरेज़ी ज़बान भी सीखना लाज़िमी फ़र्ज़ है। एक तीसरी ज़बान और लिपि के सीखने के लिए उन्हें मजबूर करना उनके साथ ज़ुल्म होगा। दो ज़बानें सीखने का बोझ इन बच्चों को उठाना पड़ेगा, वही क्या कम है। उर्दू का हठात् प्रचार बढ़ाने के लिए अपने बच्चों को क़ुर्बान न कर देना चाहिए। उर्दू की हैसियत क़ायम रहेगी, अगर उसमें उसी तरह की बात का ख़याल रक्खा जाय जिसका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है, इससे अधिक करना बच्चों के साथ ज़ुल्म होगा। इससे कम करना भी हमारे सार्वजनिक जीवन में अड़ङ्गा लगाना होगा।

उर्दू के एक हिमायती की दलीलें

[१]

इस सूबे की ज़बान क्या है ? कुछ हिन्दी कहते हैं, कुछ उर्दू और कुछ हिन्दी और उर्दू दोनों। लेकिन हमारे अधिकांश मुसलमान भाई हिन्दी के अस्तित्व ही से इनकार किया करते हैं। उनकी इस दलील का अनेक बार खंडन हो चुका है। हमें यह स्वीकार करते हुए हर्ष होता है कि धीरे-धीरे ऐसे मुसलमानों की संख्या सूबे में बढ़ रही है, जो इस बात को तस्लीम करने से गुरेज़ नहीं करते कि इस सूबे में उर्दू के अलावा हिन्दी भी एक ज़बान है। लेकिन ऐसे मुस्लिम सज्जन आज दिन भी कम मिलेंगे, जो हिन्दी के जन्म-सिद्ध अधिकार को स्वीकार करने हों। ऐसे ही एक सज्जन की दलीलों का हम यहाँ ज़िक्र करने जा रहे हैं।

पहली जनवरी, सन् १९३९, के 'लीडर' में एक मुसलमान बैरिस्टर साहब का एक ख़त छपा है। उसका शीर्षक है, "हिन्दी और उर्दू।" उस ख़त में उन्होंने जो बातें कही हैं, उनका नीचे मैं उल्लेख करूँगा। उनके बहुत-से विचारों से मैं सहमत नहीं। हाँ, उनकी इस बात से मैं पूर्णतया सहमत हूँ जब वे यह फ़रमाते हैं कि इस सूबे में सिर्फ़ दो ही ज़बानें--हिन्दी और उर्दू--ऐसी हैं जो इस सूबे में बोली जाती हैं, लेकिन हिन्दुस्तानी नाम की कोई ज़बान यहाँ रायज नहीं। उनका कहना है--"There are only two languages, Urdu and Hindi, which are spoken in these provinces, but there is no such language as Hindustani." ये मुसलमान सज्जन भी मेरी इस राय से सहमत हैं कि यह सूबा द्विभाषी है, न कि एक-भाषा-भाषी। आगे चलकर आप फ़रमाते हैं--'There is nothing wrong with the language which is at present spoken and written by an overwhelming numbers of people, Hindus and Muslims alike.' उनके इस कथन का सारांश यह है कि इस सूबे की ज़बान हिन्दी चाहे भले ही हो, लेकिन उर्दू के मुक़ाबिले में उसकी

कोई हस्ती नहीं, क्योंकि उर्दू एक ऐसी ज़बान ह जिसको इस सूबे के असख्य आदमी बोल-चाल या लिखने-पढ़ने में इस्तेमाल करते है। उनका यह दावा ग़लत है। अगर उन्होंने सरकारी गज़ट देखने की कृपा की होती, तो उनको यह पता आसानी से लग सकता था कि इस सूबे में हर साल हिन्दी या उर्दू की कितनी किताबे प्रकाशित होती है। या अगर वे कुछ और अधिक खोज करते तो उन्हें यह भी पता लग जाता कि कितने अखबार हिन्दी और उर्दू में आजकल इस सूबे में निकलते हैं और उनकी ग्राहक-संख्या क्या है? यदि उन्होने युक्त-प्रान्तीय लेजिस्लेटिव असेम्बली की कार्यवाही की रिपोर्ट देखने का कष्ट उठाया होता तो उन्हें यह मालूम हो जाता कि एक सवाल के जवाब में गवर्नमेन्ट ने इस सम्बन्ध में काफ़ी ऐसे आँकड़े दिये थे, जिनसे इस बात का आसानी से पता लग सकता है कि इस सूबे में किस ज़बान के बोलनेवालों की तादाद सिर्फ़ ज़्यादा ही नहीं है बल्कि बराबर बढ़ती जाती है।

आज की बात नहीं, सन् १९११ में मर्दुमशुमारी के कमिश्नर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि इस सूबे में ९० प्रतिशत से ज़्यादा आदमी हिन्दी बोलते है और केवल ८ प्रतिशत की ज़बान उर्दू है। ऐसी हालत मे मेरी समझ में नहीं आता कि ये मुसलमान बैरिस्टर साहब या इन्हीं के दूसरे साथी क्यो ग़लत बातों का प्रचार कर कपोल-कल्पित वाक़यात के आधार पर सरीहन ग़लत दावो का समर्थन करना चाहते हैं। उर्दू है क्या? क्या कभी हमारे इन दोस्तों और इनके साथियो ने, जो मौक़-ब-मौक़ उर्दू की हिमायत जायज़ या नाजायज़ तरीक़ो से करना अपना फ़र्ज़ आला समझते हैं, उर्दू के असली रूप को समझने या हमे समझाने की कोशिश की है? उर्दू इन्ही प्रयागस्थ मुस्लिम बैरिस्टर साहब के शब्दों मे संस्कृत, हिन्दी, अरबी और फ़ारसी के मेल से उत्पन्न हुई है। उर्दू की एक बड़ी लुग़त, फ़रहगे-आसफ़िया, के मुसन्निफ़ ने अपनी उस लुग़त में आये हुए शब्दों का विभाजन इस प्रकार किया है—

हिन्दी के	३९,००० शब्द
अरबी के	७,६०० शब्द
फ़ारसी के	६,४०० शब्द
संस्कृत के	५०० शब्द
अन्य ज़बानों के	२०० शब्द

इस शब्द-विभाजन से 'फ़रहंगे-आसफ़िया' के मुसन्निफ़ ने यह परिणाम निकाला है—

"हिन्दी के अलफ़ाज़ हमारी ज़बान में तमाम ज़बानों से ज़्यादा हैं, जो बमुक़ाबिला कुल मजमूए के निस्फ़ (आधे) के क़रीब है और अरबी के अलफ़ाज़ से चन्द (तिगुने) हैं। इससे साफ़ साबित होता है कि हमारी ज़बान की असली ज़मीन या बुनियाद हिन्दी है। पस जो हज़रात हमारी ज़बान को खींच-तान कर अरबी की तरफ़ ले जाना चाहते हैं, वे एक ऐसी ग़लती का इरतकाब करते हैं (ऐसी भूल करते हैं) जिससे इस ज़बान की फ़ितरत (प्रकृति) बिगड़ जायगी।"

इस प्रकार इस लुग़त में आये हुए कुल शब्दों की संख्या ५४ हज़ार होती है। हमारे उर्दू-परस्त भाई इन आँकड़ों से यह बात आसानी से समझ सकते हैं कि हिन्दी-उर्दूवालों में इस समय जो झगड़ा है वह हिन्दी या हिन्दी से बने हुए ३९,००० लफ़्ज़ों की बाबत नहीं हो सकता और न उर्दू की लुग़त में जगह पानेवाले ५०० संस्कृत-शब्दों ही की बाबत कोई मतभेद संभव है। अगर कुछ झगड़ा है तो केवल उन १४ हज़ार लफ़्ज़ों की बाबत हो सकता है, जो अरबी या फ़ारसी-भाषा से उर्दू ज़बान में ले लिये गय है। जहाँ तक हिन्दी और संस्कृत के लफ़्ज़ों का ताल्लुक़ है, वे तो हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के बुनियादी शब्द हैं। हिन्दी के पुजारियों और उर्दू के हिमायतियों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इनकी बाबत तो किसी तरह का मतभेद सम्भव हो ही नहीं सकता। अब सवाल यह रह जाता है कि क्या इन १४,००० अरबी और फ़ारसी के शब्दों के इस्तेमाल के बिना हमारा काम नहीं चल सकता? इन १४,००० परदेसी शब्दों में से अधिकतर हिन्दी मे भी रायज हैं। हिन्दी-शब्द-सागर में ९३,००० या ९४,००० शब्दों का अर्थ दिया गया है। इन ९३ या ९४ हज़ार शब्दों में बहुत-से अरबी या फ़ारसी के शब्द भी शामिल हैं जिनको हमने अपना लिया है। ऐसी दशा में, प्रश्न यह है कि क्या इन्हें हम इस्तेमाल से निकाल दें? या, इन्हें तो रहने दें लेकिन बिला ज़रूरत इन परदेसी ज़बानों से शब्दों के उधार लेने की प्रवृत्ति को रोकें और नये शब्दों की तलाश में ईरान या अरब की शरण न लें?

एक बात इस सम्बन्ध में याद रखने की है। अरबी और फ़ारसी इस देश के लिए परदेसी भाषायें हैं। इन दोनों विदेशी भाषाओं के शब्दों की संख्या उर्दू में एक चौथाई से कुछ अधिक है, लेकिन जो संस्कृत इस मुल्क में हज़ारों साल से रायज है, जिसके पढ़ने और

बोलनेवालों की संख्या आज दिन भी बहुत ज्यादा है और जिसकी कोख से हिन्दुस्तान की प्रान्तिक ज़बान पैदा हुई है, उसी संस्कृत ज़बान के शब्दों की तादाद इस उर्दू-लुग़त मे आये हुए शब्दो की गणना के अनुसार १०४ में सिर्फ एक है। विदेशी भाषाओं के शब्दों का इतना अधिक इस्तेमाल और अपने मुल्क की क़दीम ज़बान के लफ़्ज़ों से इस कदर नफ़रत किस मनोवृत्ति का सूचक है ? यह कहने की ज़रूरत नही कि इसकी तह म चाहे और जो उसूल मौजूद हों लेकिन वे न तो क़ौमी, न नागरिक और न साहित्यिक उसूल हो सकते हैं। हिन्दुस्तान के रहनेवाले, हिन्दी या हिन्दवी कहलानेवाले, संस्कृत या संस्कृत के शब्दो से यदि इतना परहेज़ करते है तो इसका साफ़ अर्थ यह है कि उन्हें अपने पूर्वजों की गाढ़ी कमाई की भाषा के रूप में अनमोल थाती या विरासत मिली है, उसका न उनको नाज़ है और न उसके लिए उनके दिलों में कुछ ममता है। मुझे खुद, जैसा इस लेख के पढ़ने से ज़ाहिर होगा, उर्दू में फ़ारसी के लफ़्ज़ों के इस्तेमाल से कोई एतराज़ नहीं है। मैं आज़ादी के साथ उनका प्रयोग करता हूँ—उतनी ही आज़ादी के साथ जितनी आज़ादी के साथ संस्कृत-शब्दों या उनसे बने हुए देशी शब्दो का, जो बोलचाल में रायज हो चुके हैं, इस्तेमाल करता हूँ। लेकिन अगर नये विचारों और नये अनुभवों को प्रकट करने के लिए मेरी लाइल्मी की वजह से—मेरी साहित्यिक अनभिज्ञता के कारण—मुझे देशी शब्द न मिलें तो मजबूरन मुझे संस्कृत-शब्दों की शरण में जाना पड़ता है, क्योंकि संस्कृत हिन्दी की जननी है, उसी का शब्द-भांडार एक अक्षय सोता है जहाँ से अपनी नई ज़रूरियात के लिए हमें नये शब्द आसानी से मिल सकते हैं।

संस्कृत और हिन्दी दोनों के पैदाइशी उसूलों में अभिन्न सम्बन्ध है। इसलिए जो लोग अरबी या फ़ारसी के शब्दों के स्थान मे संस्कृत-शब्दों का इस्तेमाल करते हैं वे कोई अनुचित काम नहीं करते। अजीबोग़रीब हरकत तो उनकी है जो घर की चीज़ों को ठुकरा कर ग़ैरों की चीज़ को अपनाते और अपनी इस हरकत पर नाज़ करते हैं। क्या हिन्दुस्तान की भाषायें इतनी ग़रीब हैं, इतनी अनुन्नत हैं, इतनी निकम्मी हैं कि हमारी ज़रूरियात के मुताबिक़ शब्द हमें उनसे नहीं मिल सकते ? फिर क्यों शब्दों के ढूँढ़ने मे हिन्दुस्तान के बाहर इधर-उधर हम भटकते फिरें ? ऐतिहासिक कारणों से अरब और ईरान के बहुत-से शब्दों और वाक्यों का इस मुल्क में चलन हो गया। विदेशी

होते हुए भी वे अब हमारी भाषा के शब्द और वाक्य बन गये हैं। वे अब पराये नहीं रहे, वे हमारे हो गये। इतना ही नहीं कि हमने उन्हें अपना लिया बल्कि बहुत-से अरबी और फ़ारसी के शब्द ऐसे हैं जिनके अर्थ उन ज़बानों में कुछ और थे लेकिन जिनका अर्थ हिन्दुस्तान में रायज होने के बाद कुछ और हो गया। ऐसी हालत में वे अरबी या फ़ारसी के लफ़्ज़ नहीं कहे जा सकते।

क्या उर्दू के भक्तों को यह मान्य है कि चूँकि हमारी ज़बान में अरबी और फ़ारसी के इतने लफ़्ज़ रायज हैं या रायज हो चुके हैं, इसलिए आइन्दा भी जो नये शब्द हमें बनाने पड़ें उन्हें हमें हर हालत में फ़ारसी या अरबी ही से तोड़-मरोड़ कर बनाना चाहिए? झगड़ा इस बात का नहीं कि अरबी और फ़ारसी के जो शब्द आज दिन चालू हैं वे हमारी भाषा से निकाल फेंके जायँ। झगड़ा अगर हो सकता है तो सिर्फ़ इस बात पर कि नई ज़रूरियात को पूरा करने के लिए अगर हमें लफ़्ज़ों की ज़रूरत हो तो क्या उन्हें हम संस्कृत से लें या अरबी और फ़ारसी से? क्या हम कमालपाशा और रज़ाशाह पहलवी की नीति का अनुसरण करें और अपनी जबान से एकदम अरबी और फ़ारसी के शब्दों को निकाल डालें, या हिन्दुस्तान के चन्द फ़िरक़ेवाराना साहित्यिकों के नामुनासिब एतराज़ों से डर कर ऐसे रास्ते पर चलने की कोशिश करें जिससे ज़बान और मुल्क दोनों ही ख़तरे में पड़ जायँ? मेरी निश्चित राय है कि कमाल अता तुर्क की तरह हमें अरबी और फ़ारसी के उन लफ़्ज़ों को अपनी ज़बान से निकालने की ज़रूरत नहीं, जो आज दिन हमारे मुल्क में रायज हैं। लेकिन जो नये लफ़्ज़ हमें बनाने पड़ें, उनके लिए हमें संस्कृत को अरबी और फ़ारसी के मुकाबिले में तरजीह देना चाहिए। बंगाल, आसाम, उड़ीसा, बिहार, मदरास, बम्बई, गुजरात और राजपूताना, मध्यप्रान्त और मध्यभारत, बुंदेलखंड और बघेलखंड, इन सूबों में शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत-शब्दों ही से संभव है और संस्कृत ही से बने हुए शब्द इस मुल्क में रायज हो सकते हैं।

[२]

हमारे मुसलमान भाई और उनके साथी तो उलटी गंगा बहाने की कोशिशें कर रहे हैं। उनकी समझ में इस सूबे की ज़बान में अरबी और फ़ारसी के शब्दों को, संस्कृत-शब्दों के मुक़ाबिले में, २८ गुना अधिक इस्तेमाल करने की ज़रूरत है क्योंकि जिस भाषा को वे

इस सूबे की भाषा समझते हैं उस भाषा में संस्कृत के ५०० शब्दों के मुक़ाबिले में अरबी और फ़ारसी के १४,००० लफ़्ज़ शामिल हैं। यहाँ पर फिर से इस बात पर मैं ज़ोर देना चाहता हूँ कि इस सूबे की ज़बान वही थी, वही है, वही होकर रहेगी, जिस ज़बान में तुलसीदास ने रामायण और सूरदास ने सूरसागर रचे। दोनों ही ने फ़ारसी और अरबी के शब्दों का इस्तेमाल किया है। तुलसीदास जी का "ग़रीब-नेवाज़" बहुत मशहूर है। लेकिन उनके ग्रन्थों में अरबी और फ़ारसी के शब्दों का उसी परिमाण में इस्तेमाल किया गया है, जिस मिक़दार में दाल में हींग मिलाई जाती है। उर्दू वाँ दाल और हींग की मिक़दारों में उलट-फेर कर देना चाहते हैं। उनकी राय में, दाल की मिक़दार घटा कर हींग की मिक़दार के बराबर कर दी जाय और हींग की मिक़दार दाल की असली मिक़दार के बराबर कर दी जाय! अगर उनकी यह राय मान ली जाय तो ख़ैरियत है! नहीं तो वे जामे से बाहर हो जाने की धमकी देते हैं और तरह-तरह की ग़लत-फ़हमियों को फैलाकर दिल के फफोले फोड़ते हैं।

संस्कृत के शब्दों को क्यों न अपनाना चाहिए, इसकी आजकल बेहद चर्चा है। संस्कृत के लफ़्ज़ों ने क़सूर क्या किया है? अगर आप उनसे नावाक़िफ़ हैं तो इसमें संस्कृत का अपराध है या आपकी शिक्षा का। हज़ारहा साल से जिस ज़बान के शब्दों को असंख्य औरत-मर्द बोलते चले आये हैं उस ज़बान के लफ़्ज़ों को अगर आप न समझें तो दोष हमारा नहीं और न उस ज़बान का, बल्कि आपकी उस दूषित तालीम का है, जो आपको दी गई। इनमें संस्कृत के शब्दों का कोई दोष नहीं। हम यह मानते हैं कि आपका भी यह दोष नहीं। यह तो महज़ आपकी बदक़िस्मती है। इस कमी को दूर करने की कोशिश तो आप करते नहीं, उलटे आप उन लोगों को डाँटते और फटकारते हैं जो आपकी तरह बदनसीब नहीं हैं। साहित्यिक के लिए तो शब्द औज़ार है। सूरमा को जितने अधिक प्रकार के औज़ार और हथियार मिलेंगे उतनी ही ख़ूबी के साथ वह लड़ सकेगा। इसी तरह से साहित्यिक के पास जितने अधिक शब्दों का भांडार होगा, उतनी ही आसानी और ख़ूबी के साथ वह अपने भावों को प्रकट करने में समर्थ होगा। फिर क्यों इस मुल्क में सदियों से रायज संस्कृत-शब्दों को तलाक़ दिया जाय? संस्कृत से इस नफ़रत का क्या अर्थ? हम तो आपको आज़ादी देते हैं कि अगर आपको संस्कृत-शब्दों से दुश्मनी न हो तो आप उनको इस्तेमाल करें और अगर आप उचित न

समझें तो न करें। लेकिन वही आज़ादी हम अपने लिए भी माँगते हैं। हमने तो आपसे कभी नहीं कहा कि जिन लफ़्ज़ों को आप पसन्द करते हैं उन शब्दों को आप न लिखें, न बोलें या उनका इस्तेमाल न करें। लेकिन अगर कोई समझता है कि जनता में आज़ादी के साथ विचारों के प्रचार करने के लिए अरबी या फ़ारसी के शब्दों के मुक़ाबिले में संस्कृत-शब्द ज़्यादा मौज़ूँ और सहायक सिद्ध होंगे तो कोई वजह नहीं मालूम होती कि आप उनसे क्यों बिगड़े। आप वह ज़बान बोलिए जिसे आप इस सूबे की ज़बान समझते हैं और जी भर कर उसमें अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ों को भर दीजिए। हमें कोई शिकायत नहीं। हमें भी आज़ादी दीजिए कि हम अगर चाहें तो अरबी और फ़ारसी के शब्दों की जगह कहीं कहीं संस्कृत-शब्दों का इस्तेमाल कर सकें। रवाज इस बात को तय कर देगा कि आपके चलाये हुए शब्द ज़बान के स्थायी अंग बनेंगे या मेरे।

इन्हीं मुसलमान बैरिस्टर साहब ने एक जगह फ़रमाया है कि कोई ज़बान हुक्मन नहीं गढ़ी जा सकती और न धारा-सभा के बनाये हुए क़ानूनों से उसकी सृष्टि हो सकती है। लेकिन इस सत्य को मानते हुए भी उर्दू दाँ हिन्दी के पुजारियों के साथ, संस्कृत, प्राकृत या देशज शब्दों के मामले में, धींगा-मुश्ती करना चाहते हैं। आज तक इसी लिए हमें मजबूरन कहना पड़ता है कि आपका उसूल तो ठीक है लेकिन उसका इस्तेमाल ग़लत है। आप भी फ़रमाते हैं और हम भी मानते हैं, कि कोई ज़बान क़ानूनन नहीं बनाई जा सकती, न आज तक कोई ज़बान बनी और न आगे बनाई जा सकती है। लेकिन दुःख तो इस बात का है कि उर्दू की पैरवी में उसके आशना इस बात को भूल जाते हैं कि वे ख़ुद उन लोगों को जब्रिया दबा देने और उनकी आज़ादी को छीनने की जायज़ या नाजायज़ तरीक़े से कोशिशें करते हैं जो उनके हुक्म या मरज़ी की परवाह न कर अपनी ज़बान को उस ढंग से सँवारना और सुधारना चाहते हैं, जिसको उनका दिल, उनका अंतःकरण और उनका मस्तिष्क सही मानता है।

[३]

ये ही प्रयागस्थ मुसलिम बैरिस्टर साहब आगे चलकर यह फ़रमाते हैं कि पैदाइश ही से उर्दू के विकास में हमारे हिन्दू भाइयों

ने बहुत बड़ा हिस्सा लिया है और इसी लिए वह अब इस सूबे के हिन्दू और मुसलमान दोनों की आम विरासत हो गई है। अगर उर्दू के लिए यह कहा जा सकता है तो क्या हिन्दी के विषय में भी यह बात सही नहीं है। जायसी कौन था? हिन्दू या मुसलमान? रसखान कौन था? हिन्दू या मुसलमान? इस आगे लिखे हुए दोहे का रचयिता कौन था, हिन्दू या मुसलमान--

'अमिय हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।'?

इस दोहे का रचयिता सँडीले का एक प्रसिद्ध मुसलमान कवि था। ऐसे असंख्य मुसलमानों के नाम लिये जा सकते हैं, जिनकी प्रतिभा ने हिन्दी को सींचा और सँवारा है। फिर समझ में नहीं आता कि आजकल इस बात पर क्यों इतना ज़ोर दिया जा रहा है कि उर्दू हिन्दू और मुसलमान दोनों की ज़बान है और हिन्दी महज़ चन्द हिन्दुओं की। सच्ची बातों को इस तरह छिपाना नामुनासिब है। मज़ा तो यह है कि उन्हें ख़ुद अपने इस दावे की सचाई में कि उर्दू हिन्दू और मुसलमानों की संयुक्त बपौती है विश्वास नहीं है। इसी ख़त में इन्हीं बैरिस्टर साहब ने आगे चलकर यह फ़रमाया है कि हम मुसलमान कृतज्ञतापूर्वक यह स्वीकार करते हैं कि हमारे हिन्दू भाइयों ने भूतकाल में उर्दू की उन्नति में बहुत बड़ा भाग लिया और आज दिन भी वे उसकी उन्नति में बहुत बड़ा काम कर रहे हैं। जो चीज़ दोनों की आम बपौती हो, उसके लिए मुसलमान भाइयों का हिन्दू भाइयों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना क्या आवश्यक था और हो सकता है? क्या उनके इस कृतज्ञता-प्रकाशन से यह ध्वनि नहीं निकलती कि उर्दू मुसलमानों की ख़ास ज़बान है, या इस ज़बान से उनका एक विशिष्ट सम्बन्ध है; वैसा, जैसा हिन्दुओं का उसके साथ होना संभव नहीं है। मुसलमान आलिमों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि कोई हिन्दू सही उर्दू लिख ही नहीं सकता। इन आलिमों की राय में, उर्दू के लेखक का मुसलमान होना ज़रूरी है क्योंकि इनके अनुसार सही उर्दू वही लिख सकता है जिसके जज़बात और ख़यालात, जिसकी उम्मीदें और तमन्नायें और जिसकी ज़िन्दगी अनंत पहल इस्लामी रंग में रँगें हों। जितने मुसलमान साहबान से मैंने इस मसले पर बात-चीत की, उन सबने एक स्वर से इस

बात पर ज़ोर दिया कि उर्दू का सवाल उनके लिए एक मज़हबी सवाल है, उनके कल्चर का इससे अटूट सम्बन्ध है। लिहाज़ा हमारे मुसलमान भाई ख़ुद इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि उर्दू हिन्दू और मुसलमानों की ज़बान थी, है या हो सकती है क्योंकि हिन्दू जब तक मुसलमान न हो जाय तब तक वह उर्दू लिख नहीं सकता।

सैयद इन्शा ने 'दरिया-ए-लताफ़त' में लिखा है—

"मुहावर-ए-उर्दू इबारत अज़ गोयाई अहले इस्लाम अस्त।" (पृष्ठ ५)

अर्थात्—उर्दू से मतलब मुसलमानों की बोल-चाल से है।

शम्सुल उलमा मौलाना अलताफ़ हुसेन हाली ने फ़रमाया है—

"हिन्दुओं की सोशल हालत (सामाजिक अवस्था) उर्दू-ए-मुअल्ला को उनकी मादरी ज़बान (मातृ-भाषा) नहीं होने देती।"

सियासी ज़रूरतों से मजबूर होकर हमारे मुसलमान भाई भले ही यह दावा पेश करें कि उर्दू हिन्दू और मुसलमानों की आम बपौती है। इस बपौती में कभी उन्होंने अब से हमारे हिस्से को तसलीम करना मुनासिब नहीं समझा। लेकिन जब ज़रूरत पड़ने पर हमारे चन्द मुसलमान दोस्त कुछ हिन्दी साहबान के नामों का नाजायज़ फ़ायदा उठा कर अपने पक्ष को मुनासिबत का जामा पहनाने की कोशिश करते हैं तो न तो वे अपने को धोखा दे सकते है और न दूसरों की आँखों में धूल फेंक सकते हैं।

इस लेख में सर तेजबहादुर सप्रू का एक बड़ा मज़ेदार ज़िक्र आया है। पाठकों को उसे पढ़ाने के लोभ को हम संवरण नहीं कर सकते। उर्दू-दिवस मनाने के लिए अभी हाल में इलाहाबाद में एक जलसा हुआ था। उसमें बोलते हुए सर तेजबहादुर सप्रू ने यह फ़रमाने की इनायत की थी—

"मैं नये शब्द हिन्दुस्तानी के इस्तेमाल को नहीं समझ पाता, जिसमें हिन्दू तो अधिकाधिक संस्कृत और मुसलमान अधिकाधिक अरबिक शब्दों को रायज़ करना चाहते हैं। यह धोखे की टट्टी है।" हिन्दुस्तानी एकेडेमी के वर्षों तक सभापति रहने के बाद—नहीं नहीं, सभापति नहीं अगर श्रीरघुपतिसहाय जी का कहना ठीक है कि उन्हें सभापति कहलाना क़तई नापसन्द है—इसलिए हम अपनी भूल के लिए क्षमा माँगते हुए यह कहेंगे कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी के वर्षों तक प्रेज़ीडेंट रहने के बाद—

अब सन् १९३९ में सर तेजबहादुर सप्रू को यह इलहाम हुआ कि हिन्दुस्तानी कोई ज़बान नहीं, यह तो महज़ एक धोखे की टट्टी है। पूज्यपाद, अगर यह धोखे की टट्टी थी तो आप इतने दिनों तक क्यों हिन्दुस्तानी एकेडेमी को अपनी सरपरस्ती में रखकर लोगों को मुग़ालता देते रहे। यदि सर तेजबहादुर सप्रू को हिन्दुस्तानी शब्द से चिढ़ है और उसके अर्थ को वे नहीं समझते तो क्या हम समझें कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी में रह कर सर तेज मुग़ालते से उस ज़बान के गढ़ने की कोशिश करते रहे जिसको वे सूबे की ज़बान नहीं समझते, और जब उन्हें इसमें नाकामयाबी हुई तब हिन्दुस्तानी एकेडेमी से इस्तीफ़ा देने के साथ-साथ इस शब्द से भी उन्हें नफ़रत होने लगी। हिन्दुस्तानी या हिन्दी ज़बान कोई नया लफ़्ज़ नहीं। कम से कम सर तेजबहादुर सप्रू को मालूम होना चाहिए कि लफ़्ज़ हिन्दुस्तानी का अर्थ उस भाषा से है जो इस मुल्क में रायज है जिसके ४०,००० के लगभग शब्द उर्दू लुग़तों में आज दिन भी दिखाई देते हैं।

[४]

हमारे उपर्युक्त मुसलमान बैरिस्टर साहब यह फ़रमाते हैं कि युक्तप्रान्त में जिस ज़बान के सबसे अधिक बोलनेवाले हैं वह उर्दू है। आपकी युक्तप्रान्त की सरकार से यह भी शिकायत है कि उर्दू की तरक्क़ी के लिए वह जो कुछ करती है वह थोड़ा है। उर्दू की तरक़्क़ी के लिए गवर्नमेंट ने क्या किया या न किया, इससे हमको यहाँ पर कोई सरोकार नहीं। लेकिन हमें अचरज होता है जब एक साँस में तो हमारे बैरिस्टर साहब यह कहते हैं कि इस सूबे की दो ज़बानें हैं और दूसरी साँस में अपने पूर्व-कथन का खंडन कर वे यह फ़रमाने लगते हैं कि इस सूबे की एक ही ज़बान है और वह है उर्दू। इसी उर्दू ही को, आपका कहना है, इस सूबे के ज़्यादातर लोग बोलते हैं। १९११ की मर्दुमशुमारी के कमिश्नर ने अपनी रिपोर्ट में यह लिखा है कि इस सूबे में ९० प्रतिशत से ज़्यादा आदमी हिन्दी बोलते हैं और सिर्फ़ ८ प्रतिशत आदमियों की ज़बान उर्दू है। बैरिस्टर साहब को इससे क्या सरोकार! वाक़यात अगर ख़िलाफ़ हैं तो उनको वे नज़रअन्दाज़ कर जाते हैं या उनको अपनी लफ़्फ़ाज़ी के ढेर में दबाने की कोशिश करते हैं। मैं यह साफ़ कह देना चाहता हूँ कि मुझे उर्दू से कोई द्वेष नहीं। मेरी यह मनशा भी नहीं, कि उर्दू को कोई धक्का लगे। इसकी तरक़्क़ी

मैं दिल से चाहता हूँ। वह दिन-दूनी, रात-चौगुनी बढ़े। यही मेरी मुराद है, क्योंकि किसी भी साहित्य के विकास से हमारे मानसिक और नैतिक विकास पर ज़रूर असर पड़ेगा। लेकिन उर्दू के प्रति सदिच्छा होते हुए भी मैं यह कहने के लिए मजबूर हूँ कि सूबे की ज़बान सिर्फ़ उर्दू नहीं है। इस सूबे की दो ज़बानें हैं। उर्दू के साथ अभी तक जो रियायत होती आई, उसकी मुझको कोई शिकायत नहीं, लेकिन इतना तो कहने के लिए मैं मजबूर हूँ कि अभी तक इस सूबे के हाकिमों ने हिन्दी के साथ सौतेली माँ का-सा जो बर्ताव यह कह कर किया कि हिन्दी कोई ज़बान नहीं और न सूबे में उसका कोई चलन है, सरासर अनुचित और ग़लत था। इस नीति की जड़ मे साम्प्रदायिक असहिष्णुता, हठधर्मी और पक्षपात था और है।

जो साहित्य का सच्चा पुजारी है उसको साहित्य के हर अंग और हर एक रूप का एक ही समान मान और आदर करना चाहिए। उर्दू-साहित्य अगर बढ़ता है तो हमारे लिए खुशी का बाअस होना चाहिए। अगर हिन्दी-साहित्य उठता और फैल जाता है तो भी हमें खुशी मनानी चाहिए। दोनों ही हमारे सूबे की मानसिक ज़िन्दगी के शीशे हैं। दोनो ही से हमारे सूबे की ज़िंदगी के उलट फेर का पता हमें चलता है। सूबे की आत्मा इन आइनो में प्रतिबिम्बित है। हमें जैसे फ़साने-आज़ाद के लिखनेवाले का अभिमान है, वैसे ही प्रेमचन्द या जयशंकरप्रसाद की कृतियों का। हम दोनो ही का क्यों न आदर करें। नूह और बिस्मिल अगर हमारे शायर हैं तो उसी तरह पन्त, निराला और महादेवी वर्मा भी तो हमारे सूबे के कवि हैं। साहित्य के संसार मे फ़िरकेबन्दी की कोई ज़रूरत नही। प्रान्तों या मुल्कों की सरहदी से उसे कोई सरोकार नहीं। कवि या लेखक किसी जाति का नहीं, किसी धर्म का नही, किसी खास मुल्क का नहीं। उसके ऊपर तो संसार के सब निवासियों का समान अधिकार है। फिर क्यों न हम इस बात की कोशिश करे कि जहाँ कही भी कोई प्रतापशाली आदमी हमें मिले, जो हमारी ज़िंदगी को रोशन कर सकता है और कुरूपता में सुन्दरता का आभास दिखा सकता है या अपनी प्रतिभा की सुगन्धि से हमारे जीवन को रसमय बना सकता है उसको हम छाती से लगा लें, उसको हम ऊँचे आसन पर बैठायें और इस बात की तनिक भी परवाह न करें कि उसकी ज़बान क्या है, उसका मज़हब क्या है, कहाँ से वह आया और कहाँ वह जायगा। जब तक वह हमारे साथ है, वह हमारा है; जो कुछ उसको देना है वह हमारे फ़ायदे के

लिए होगा। उसके सन्देश को हम ध्यान से सुनें और उससे लाभ उठायें। ईश्वर को हम धन्यवाद दें कि उसने हमारे ऊपर दया की, जो उसने हमारे बीच में ऐसे आदमी को भेजा जो शब्दों का जादूगर था, और जिसने अपने जादू से हमारी ज़िंदगी मे कायापलट कर दिया।

[५]

हमारे ये मुसलमान बैरिस्टर साहब, जैसा हम ऊपर कई बार देख चुके हैं, परस्परविरोधी बातें कहने मे सिद्धहस्त हैं। कभी कहते हैं कि इस सूबे की दो ज़बानें हैं, और कभी कहते हैं कि नहीं, इस सूबे की एक ही ज़बान है जिसका नाम उर्दू है। इसी सम्बन्ध में उनके एक तीसरे कथन को सुन लीजिए। वह यह है—"इस बात से किसी को इनकार नहीं कि हिन्दी या दीगर ज़िन्दा ज़बानों ने तरक्क़ी की है लेकिन संजीदगी के साथ इस मसले पर ग़ौर करना चाहिए कि क्या यह मुनासिब होगा कि जो ज़बान यहाँ रायज है उसको हटाकर संस्कृत या अरबी के शब्दों को ज़्यादा तादाद में ठूँस कर उर्दू का एक नया संस्करण चलाया जाय ?" (फ़ारसी का ज़िक्र नहीं। क्या वह स्वदेशी ज़बान है ?)

इसका क्या अर्थ है ? हमारे बैरिस्टर साहब इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस सूबे में दो ज़बानें हैं। अगर इस सूबे की दो ज़बानें हैं तो यह कहाँ तक मुनासिब होगा कि सिर्फ़ एक ही ज़बान को हम हर तरह से पालें और पोसें और दूसरी ज़बान को एकदम भूल जायँ और उसकी तरक्क़ी में कुछ भी दिलचस्पी न लें ! लेकिन जब बैरिस्टर साहब यह तस्लीम करते हैं कि हिन्दी एक ज़िन्दा ज़बान है और उसने काफ़ी तरक्क़ी की है—और तरक्क़ी की है यह मैं अपनी ओर से जोड़ देना चाहता हूँ, बिना किसी तरह की सरकारी इम्दाद के—तो क्या हमारा अब यही फ़र्ज़ है कि उसके साथ जो साहित्यिक बेइन्साफी होती चली आई है, उस बेइन्साफ़ी को हम क़ायम रहने दें ? क्या यही हमारी नेकनीयती और अदबी तहज़ीब का तकाज़ा है ? मुझे किसी हिन्दीवाले की ज़बान से यह सुनने का दुर्भाग्य अभी तक नहीं हुआ कि उर्दू दबा दी जाय और हिन्दी आगे बढ़ाई जाय। लेकिन दुःख के साथ मुझे यह कहना पड़ता है कि उर्दू के हिमायती इस बात को कहने से नहीं हिचकते कि उर्दू के अलावा किसी दूसरी ज़बान के साथ हमदर्दी न दिखाई जाय। अगर सूबे में दो ज़बानें हैं—और हमारे बैरिस्टर साहब इस

बात को स्वीकार करते है कि इस सूबे की दो ज़बानें हैं—तो फिर बैरिस्टर साहब को यह साफ़ तौर से तस्लीम करना था कि दोनों ज़बानो के साथ एकसाँ बर्ताव करना चाहिए और दोनों की तरक़्क़ी में एक-सी इमदाद देना सूबे की सरकार का फ़र्ज़ है। अगर उनकी यह मनशा नहीं थी तो हमें साफ़-साफ़ बता देना उनका फ़र्ज़ था कि क्यों उनकी निगाह में उर्दू के साथ ख़ास रियायत की जाय; और हिन्दी को इस सूबे में कोई जगह न मिले, यद्यपि वह इस सूबे की ज़बान है और काफ़ी तरक़्क़ी भी कर चुकी है। मैं बैरिस्टर साहब की इस बात से सहमत हूँ कि हिन्दी-उर्दू का झगड़ा तभी तय हो सकता है जब नेकनीयती और ईमानदारी के साथ इस बात को हम सब स्वीकार कर लें कि इस सूबे की दो ज़बानें हैं। लेकिन क्या बैरिस्टर साहब और उनके दोस्त इस बात के बताने की भी तकलीफ़ फ़रमायेंगे कि जो कशमकश आजकल अख़बारी दुनिया मे दिखाई दे रही है उसकी तह में क्या बात है ?

अगर उर्दू सिर्फ़ मुसलमानों की ज़बान नहीं, अगर उर्दू हिन्दू और मुसलमान दोनों की ज़बान है तो क्या वजह है कि मुसलिम बैरिस्टर साहब हिन्दी-उर्दू के मसले को साम्प्रदायिकता का रंग देकर इस बात को सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं कि आजकल उर्दू के साथ बलात्कार हो रहा है ? उर्दू अगर सिर्फ़ मुसलमान की ज़बान नहीं तो उसके साथ ज़्यादती से उन्हें क्यों इतनी ज़्यादा तकलीफ़ होती है ? क्या उनके दिल मे यह चोर नहीं है कि उर्दू मुसलमानों की ज़बान है और हिन्दी हिन्दुओं की है। बंगाल के मुसलमानों की ज़बान बंगाली है। पूना और बरार के मुसलमानों की ज़बान मराठी है। वहाँ पर भी आज से नहीं, ४० साल पहले से, मुसलमानी सम्प्रदाय की मनोवृत्तिवाले मुसलमान उर्दू को रायज करने की प्रबल चेष्टाये करते चले आये हैं। इससे क्या साबित होता है ? क्या यह साबित होता है कि उर्दू हिन्दू और मुसलमान दोनों की एकसाँ विरासत है, या इस विरासत में दोनों का एकसाँ हिस्सा है ? क्या उर्दू के हिमायतियों की यह मनशा नहीं है कि इस सूबे में हिन्दी के साथ जो अभी तक बेइन्साफ़ी जारी रही है वह क़ायम रहे और उर्दू को जो रियायते अभी तक हासिल हैं वे ज्यों की त्यों बरक़रार रहें ? क्या उनके विरोध के पीछे यह उद्देश नहीं है कि उर्दू के अलावा इस सूबे में किसी दूसरी ज़बान का प्रसार न होना चाहिए ? क्या इन लोगों ने, जो आज उर्दू के

हामी हैं, पंजाब के सर सिकन्दर हयात की गवर्नमेंट के खिलाफ़ कलम उठाई और उनकी भूलों पर उन्हे भला-बुरा कहा ? पंजाब में आज दिन भी पंजाबी-भाषा और गुरुमुखी-लिपि के लिए सरकारी दफ़्तरों और अदालतो मे जगह कहाँ, यद्यपि पंजाब के हिन्दू और मुसलमान पंजाबी बोलते है और उनकी संख्या ४३ प्रतिशत है। इसके होते हुए भी पंजाबी-ज़बान और गुरुमुखी-लिपि को सर सिकन्दर हयात की सरकार ने उर्दू के मुक़ाबिले में न सरकारी इम्दाद और न सरकारी दफ़्तरों में एकसाँ रुतबा देने की इनायत फ़रमाई। क्या वजह है कि इस सूबे का उर्दू-प्रेस सर सिकन्दर हयात की गवर्नमेंट के इस तास्सुब की निन्दा नहीं करता और न उन्हें इस बात के लिए मजबूर करता है कि वे पंजाब के कथित अल्पसंख्यकों की ज़बान और लिपि को वही स्थान दे जो स्थान हमारे सूबे में अल्पसंख्यक संप्रदायवाले अपनी ज़बान के लिए चाहते हैं। कुछ लोगों की दिली मनशा तो यह है कि उर्दू का इस सूबे में अभी तक जो रुतबा रहा वह रुतबा आइन्दा भी क़ायम रहे और साथ ही साथ हिन्दी जिस तरह से अभी तक ठुकराई गई उसी तरह से आइन्दा भी ठुकराई जाती रहे। अल्पसंख्यकों की भाषा के लिए हमारे सूबे में जिन लोगों को इतनी ममता है उन्हें पंजाब के अल्पसंख्यकों के साथ लिपि और ज़बान के मामले में हमदर्दी क्यों नहीं है ? इस हमदर्दी के न होने का क्या अर्थ हो सकता है ? क्या यह मुनासिब है कि इस सूबे में तो हम अल्पसंख्यकों के साथ इतनी हमदर्दी करें लेकिन ग़ैर-सूबों में अल्पसंख्यकों के साथ चाहे जितना ज़ुल्म होता रहे, हमारे कान में जूँ भी न रेंगे ? मज़हबी ख्याली ज़ुल्मों को लेकर तो हम ज़मीन-आसमान के क़ुलाबे एक कर दें ; लेकिन जब वही ज़ुल्म उन भाई-बन्धुओं के साथ, जो इस सूबे की सरहद के पार रहते हैं, किये जायँ तब उनकी फ़रियाद भी न सुनें।

[६]

मैंने सुना और पढ़ा भी है कि दुनिया में जो मज़लूम हैं, सताये हुए हैं, उनको दूसरे पीड़ितों के साथ हमदर्दी होती है; लेकिन फ़िरक़ेवाराना मज़लूमों में यह विशेषता है कि उनके साथ कोई ज़ुल्म करे या न करे वे अपनी शिकायतों और शिकवों से पड़ोसियों का चैन से सोना और बैठना हराम कर देते हैं। लेकिन जब वे खुद इन्साफ़ की गद्दी पर बैठकर ज़ुल्म करने पर उतारू हो जाते हैं तब उनका ज़ुल्म भी

इन्साफ़ हो जाता है, और उन्हें अपने मज़लूमों के साथ कोई हमदर्दी बाक़ी नहीं रह जाती। हम तो अक़्लियत—अल्पता—के जायज़ हक़ों की रक्षा करना जिस तरह संयुक्त-प्रान्त में अपना फ़र्ज़ समझते हैं, उसी तरह पंजाब, बिहार, बंगाल या हिन्दुस्तान के बाहर अन्य देशों के अल्पसंख्यकों के साथ हमदर्दी दिखाना अपना कर्तव्य समझते हैं। ज़ुल्म ज़ुल्म है, उसको चाहे हमारा सगा भाई ही क्यों न करे।

हमने जगह जगह पर यह कहा है कि हम उर्दू के हितैषी हैं और अगर उर्दू के साथ कोई बेइन्साफ़ी करना चाहे तो हम उसका विरोध करने के लिए तैयार हैं। इसी तरह हम सर सिकन्दर और उनकी गवर्नमेंट की तीव्र आलोचना करते हैं कि वे अपने यहाँ के अल्पसंख्यकों की लिपि और भाषा के साथ अन्याय कर रहे हैं। उनका फ़र्ज़ है कि पंजाबी-ज़बान और गुरुमुखी-लिपि को वही आसन दिया जाय, जिस आसन की माँग हमारे यहाँ मुसलमान भाई अपनी लिपि और अपनी ज़बान के लिए कर रहे हैं। पंजाब में हिन्दी के साथ आजकल क्या सुलूक हो रहा है? वहाँ के बहुसंख्यकों—अक्सरियत—ने हिन्दी-भाषा को क्या सहायता पहुँचाई? क्या वजह है कि पटने में होनेवाले अधिवेशन में बिहार और संयुक्त-प्रान्त को कांग्रेसी गवर्नमेंट के ख़िलाफ़ तो शुरू से अन्त तक मनगढ़न्त आरोप किये और बेसिर पैर के इल्ज़ाम थोपे जायँ और यहाँ के अल्पसंख्यकों के प्रति जो उदारता का व्यवहार हो रहा है उस पर धूल फेंकी जाय। मुसलमानों के साथ बनावटी अत्याचारों की दुहाई देकर कांग्रेस को बदनाम करने की हर तरह से कोशिश की गई। सर सिकन्दर हयात भी उस जलसे में खड़े होकर यह फ़रमाने से हिचके कि उन्होंने अपने सूबे के अल्पसंख्यकों के साथ जिस उदारता का व्यवहार किया है उसकी हिन्दुस्तान या हिन्दुस्तान के बाहर कोई मिसाल नहीं। मिसाल हो ही कैसे सकती है? किस कांग्रेसी गवर्नमेंट ने अपने अल्पसंख्यकों की ज़बान या लिपि को दबाने की वह कोशिश की जो कोशिश सर सिकन्दर हयात की सरकार पंजाब के पंजाबी या गुरुमुखी या देवनागरी-लिपि के मामले में कर रही है। हमारे इलाहाबाद के बैरिस्टर साहब युक्त-प्रान्त के मामले को लेकर तो यहाँ की कांग्रेसी सरकार को कोसने से नहीं हिचकते, हालाँकि युक्त-प्रान्त में कोई ऐसी बात नहीं हुई, जो पदग्रहण के पहले से इस सूबे में न चली आती हो। हमें कोई इसकी शिकायत नहीं। हम जानते हैं कि इस तरह के प्रपंचों का कोई असर न

होगा। लेकिन हमारी समझ में यह नहीं आता कि इन बैरिस्टर साहब ने पंजाब के अल्पसंख्यकों की ज़बान और लिपि के सम्बन्ध में पैरवी करना अपना फ़र्ज़ क्यों नहीं समझा ? अगर कोई उर्दू की हिमायत में यहाँ बोलता है तो उसका यह ढोंग ज़रूर है, लेकिन क्या उनसे यह पूछा जा सकता है कि वे सर सिकन्दर को यही नसीहत क्यों नहीं देते और उनसे यह क्यों नहीं कहते कि पंजाब मे पंजाबी और गुरुमुखी को वही स्थान दिया जाय जो उर्दू को वहाँ हासिल है ? सच बात तो यह है कि इस मुल्क में न तो कोई अक़्लियत--अल्पता--का और कोई अक्सरियत--बहुता--का सवाल है। मुख्तलिफ़ फ़िरक़ेवाराना गिरोहों के लोग इस बात की कोशिश मे लगे हैं कि हुकूमत के ऊपर उनका क़ब्ज़ा हो ताकि वे अपने हमदर्दों के साथ नाजायज़ रियायत कर सकें और दूसरों की हक़ तलफ़ी करें। कांग्रेस तो इन झगड़ों से कोसों दूर है। उसका दिल पाक है। कितना अच्छा हो अगर उसके समालोचक उसे नसीहत देने के पहले खुद अपने गिरेबां में सर डाल कर अपने दिलों को पहचानने की कोशिश करे और खुदगर्ज़ी, तंगदिली और तास्सुब को पहले बाहर फेंक कर तब सियासी मैदान में बोलने या हिस्सा लेने की जुर्रत करें।